बी.ए. प्रोग्राम | प्रथम वर्ष | संस्कृत

महाकवि कालिदासः रघुवंश (प्रथम सर्ग)

अध्ययन सामग्री : 1 (पाठ 1-5)

सम्पादक : डॉ. रमेश कुमार शर्मा

मुक्त शिक्षा विद्यालय
(मुक्त शिक्षा परिसर)
दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग

पाठ 1

महाकवि कालिदास एवं उनका महाकाव्य रघुवंश

महर्षि वाल्मीकि एवं महर्षि वेदव्यास के पश्चात् जिस महाकवि ने भारतीय साहित्य और चेतना पर दूर तक अमिट छाप छोड़ी है, वह कालिदास हैं। कम ही कवि ऐसे होते हैं जिन्हें किसी राष्ट्र की समूची सांस्कृतिक चेतना को मुखरित करने की कला पर अधिकार होता है। कालिदास ऐसे ही कवि हैं। ''भारतवर्ष के ऋषियों, सन्तों, कलाकारों और राजपुरुषों और विचारकों ने जो कुछ उत्तम और महान् दिया है, उसके सहस्त्रों वर्ष के इतिहास का जो कुछ सौन्दर्य है, उसने मनुष्य को पशु-सुलभ धरातल से उठाकर देवत्व में प्रतिष्ठित करने की जितनी विधियों का संधान किया है उन सब को ललित-मोहन और सशक्त वाणी देने का काम कालिदास ने किया है।''[1] सम्पूर्ण भारतीय मनीषा ने कालिदास की इस महिमा को स्वीकारा है और उन्हें राष्ट्रीय कवि की उपाधि से सम्मानित किया है।

सैकड़ों वर्षों तक उनकी ललित-गहन कविता ने आनन्द और प्रेरणा दी है। वाल्मीकि और व्यास की भांति उनकी कविता ने भी महनीय और उदात्त चरित्रों की सृष्टि की है। जहां भी कालिदास की तत्वान्वेषिणी दृष्टि गई है वहीं उसने जीवन के किसी न किसी अदृष्ट पक्ष को उद्घाटित किया है। साहित्य और चिंतन की इतनी बड़ी विरासत के साथ न्याय करने की क्षमता हर किसी कवि में नहीं होती और यदि कालिदास यह कर सके तो यह उनकी अर्थग्राहिका शक्ति और मर्मभेदिनी दृष्टि का परिचायक है।

परन्तु जिस कवि ने भारत की अन्तरात्मा को वाणी दी, वे अपने जीवन के विषय में सर्वथा मौन है। यही कारण है कि उनकी स्थिति-काल, जन्म-स्थान तथा व्यक्तिगत जीवन को लेकर बड़ा मत-वैभिन्न्य है। उनकी रचनाओं के अनुशीलन करने के पश्चात् हम इतना ही जान पाते हैं कि वे ऐसे युग में हुए जबकि देश में शान्ति और समृद्धि विद्यमान थी। विद्वानों के अनुसार उज्जैन के सम्राट् वीर विक्रमादित्य उनके आश्रयदाता थे और वे स्वयं भगवान् शिव के अनन्य भक्त थे। परम्परा से उनके विषय में यह जनश्रुति चली आ रही है कि वे विदेशी हूण आक्रमणकारियों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में ईसवी पूर्व सन् 57 में अपने नाम से विक्रम संवत्सर का प्रवर्तन करने वाले सम्राट् विक्रमादित्य की राज्य सभा के नवरत्नों में से एक थे। कथा-सरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य और उनके पिता महेन्द्रादित्य दोनों ही भगवान् शिव के परमभक्त थे। महाकवि कालिदास भी शिवभक्त थे। इस आधार पर कालिदास का समय ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी ही स्वीकृत होता है।

इसके विपरीत अन्य विद्वानों की धारणा है कि महाकवि कालिदास भारतीय इतिहास के स्वर्णिम युग में अर्थात् गुप्त शासकों के काल (320 ई.-510 ई.) में हुए। जैसा कि कालिदास के विषय में प्रसिद्ध है वे ऐन्द्रिय विषयों, कलात्मक सौन्दर्य एवं भोगयुक्त भावनाओं के मर्मज्ञ सर्वोत्कृष्ट कवि थे; अत: हो सकता है कि वे ऐश्वर्य-प्रधान गुप्तयुग की देन हों। गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास में चरम भौतिक उन्नति तथा वैभव का काल माना जाता है। कालिदास के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करने वाले चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-415 ई.) के उत्तरकालिक समय में अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया, कुमारगुप्त प्रथम के वे समकालीन रहे तथा स्कन्दगुप्त के शासन काल में भी कुछ समय तक उनकी साहित्य साधना चलती रही। इस

---

[1]आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : ''कालिदास की लालित्य-योजना'', पृष्ठ 9

प्रकार वे तीन प्रख्यात गुप्त शासकों–चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त और स्कन्दगुप्त–की राजसभा में रहे। अतएव उन्हें भारतीय चेतना एवं समृद्धि के सुवर्ण युग से सम्बद्ध माना जाता है।

कालिदास के विषय में विद्वानों के इन विभिन्न विचारों और मतों को देखते हुए कालिदास का कोई निश्चित समय ज्ञात कर पाना वस्तुतः बहुत कठिन है। ईसवी सन् 634 के 'ऐहोल' शिलालेख में कालिदास के नाम का उल्लेख मिलता है तथा ईसवी सन् 472 के लिखे वत्सभट्टि के मन्दसौर शिलालेख के कुछ पद्य तो कालिदास के ऋतुसंहार तथा मेघदूत खंडकाव्यों के पद्यों का अनुकरण मात्र प्रतीत होते हैं। इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि कालिदास के काल की परवर्ती सीमा ईसवी सन् की पांचवी शताब्दी से पीछे नहीं ले जायी जा सकती। इसके अतिरिक्त कालिदास ने भास को अपना पूर्वनाटककार माना है और अपनी रचनाओं में उसके नाम का विशेष रूप से उल्लेख किया है। अतः कालिदास नाटककार भास (ई. पूर्व तृतीय-चतुर्थ शताब्दी) से परवर्ती बैठते हैं। कालिदास का काव्य महाकवि अश्वघोष के काव्य से बहुत मिलता-जुलता है और अश्वघोष का काल निश्चित रूप से ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है, क्योंकि वे राजा कनिष्क (प्रथम शताब्दी ई.) के समकालीन थे। विद्वानों का अधिकतर झुकाव कालिदास को अश्वघोष का परवर्ती मानने का है, परन्तु ठोस प्रमाणों के अभाव में कालिदास का काल अनिश्चित ही है।

महाकवि कालिदास के जन्म स्थान के विषय में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास के समालोचकों में पर्याप्त मतभेद है। इस संदर्भ में स्वर्गीय डा. लक्ष्मीधर जी के वचन ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं- ''कालिदास इतने व्यापक और सार्वभौम संवेदनाओं के कवि हैं और उनका मन राष्ट्रीयता की भावना से इतना ओत-प्रोत है कि उनकी रचनाओं के आधार पर यह जान लेना कि भारतवर्ष के किस विशेष भाग या भागों में वे उत्पन्न हुए और कहां उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया, सुलभ नहीं।'' महाकवि कालिदास इस विशाल देश के कोने-कोने से सुपरिचित हैं तथा उन्होंने अपनी कृतियों में इस देश के विभिन्न भू-भागों, पशुओं, पक्षियों, पेड़-पौधों, और यहां के निवासियों की रीतियों, प्रथाओं और विश्वासों का इतना यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है कि देश के किसी विशेष स्थान या प्रान्त को उनकी जन्म-भूमि सिद्ध करना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव प्रतीत होता है। विद्वानों ने कालिदास को बंगाल, काश्मीर, मालवा, विदर्भ, गढ़वाल प्रान्त के निवासी बताकर मत-भिन्नता प्रकट की है। अतएव कालिदास के जन्म स्थान की समस्या का कोई हल अभी तक नहीं निकला है और यह समस्या अभी तक उसी प्रकार उलझी हुई है। इस सन्दर्भ में केवल एक ही बात कुछ निश्चय के साथ कहीं जा सकती है कि कालिदास ने अपने जीवन का बहुत-सा भाग मालवा देश में, विशेष रूप से उज्जैन नगर में व्यतीत किया होगा क्योंकि इसके सौंदर्य और वैभव का उन्होंने रचनाओं में बड़ी तन्मयता और रुचि के साथ वर्णन किया है और इससे सम्बन्धित अपने अनुभवों को विशेष वाणी दी है।

इस महान् कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में भी हमें वास्तविक ज्ञान उपलब्ध नहीं है। किसी विश्वसनीय प्रमाण के न होने से कालिदास के जीवन के विषय में अनेक प्रकार की कथाएं कल्पित कर ली गई हैं। इनमें से अत्यधिक लोकप्रिय कथा उनके बारे में यह सुनने में आती है कि वे जन्म से वज्रमूर्ख थे और कुछ पण्डितों के षडयंत्र के कारण उनका विवाह विद्योत्तमा नामक विदुषी राजकुमारी से हो गया। विद्योत्तमा ने शास्त्रार्थ में पण्डितों को पराजित कर दिया था और उन्होंने अपनी पराजय का बदला चुकाने के लिए धोखे का एक जाल बिछाया और राजकुमारी का मूर्ख कालिदास से विवाह करवा दिया। उनके विषय में एक अन्य अत्यधिक लोक-प्रचलित

यह कथा प्रसिद्ध है कि लंका की राजनर्तकी ने जिसके साथ वे अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य के साथ किसी कारण से झगड़ा हो जाने के कारण गुप्त रूप से निवास कर रहें थे, उनकी हत्या कर दी।[1]

कालिदास के बहुत बाद के कुछ कवियों जैसे बल्लाल ने उन्हें धारा नगरी के सम्राट् भोज का राजकवि बताया है और कुछ ने सोचे-समझे बिना ही उन्हें परवर्ती कवियों जैसे दंडी, भवभूति आदि का समकालीन बना दिया है। कालिदास की कृतियों का अनुशीलन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि वे जाति से ब्राह्मण और भगवान शिव के परमभक्त थे तथापि विष्णु एवं अन्य अवतारों एवं देवताओं के प्रति उनकी रुचि उनके स्मार्त होने की परिचायिका है। उन्होंने प्राचीन धर्मग्रंथों और शास्त्रों एवं भारतीय दर्शन के विभिन्न सिद्धांतों का गहन अध्ययन किया था तथा व्याकरण, राजनीति, छन्द-शास्त्र, काव्य-शास्त्र जैसे दुरूह विषयों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था।

कालिदास को बहुत से ग्रंथों का रचयिता माना जाता है। प्रोफेसर एम. आर. काले ने लगभग चालीस (40) ऐसे ग्रंथों का उल्लेख किया है कि जिन्हें कालिदास द्वारा लिखा माना जाता है। परन्तु इनमें से केवल सात ही ऐसे ग्रंथ हैं जिन्हें विद्वान् सर्वसम्मति से कालिदास द्वारा लिखा स्वीकार करते हैं। वे ग्रंथ हैं–

(क) ऋतुसंहार और मेघदूत– दो खण्ड काव्य।

(ख) कुमारसम्भवम् और रघुवंशम्– दो महाकाव्य।

(ग) मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञान-शाकुन्तलम्– तीन नाटक।

यहां हम 'रघुवंशम्' महाकाव्य पर ही विचार करेंगे।

'रघुवंश' महाकाव्य कालिदास की नैसर्गिक प्रतिभा का फल है। इसके उन्नीस (19) सर्ग है। इसमें सूर्य-वंश के विश्व-विदित यशस्वी राजाओं के जीवन-चरित्र का वर्णन है। तथापि कालिदास से पूर्व भी कुछ कवि (पूर्वसूरयः) जैसे महर्षि वाल्मीकि, महाकवि भास आदि इस विषय को लेकर काव्य लिख चुके थे और स्वयं कालिदास ने भी अपने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में इस बात को स्वीकार किया है तथापि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महाकवि

---

[1] यह किवदंती सुनने में आती है कि एक बार कालिदास ने अपने आश्रयदाता सम्राट् विक्रमादित्य को किसी कारणवश रुष्ट कर दिया और इस पर उस राजा ने कालिदास को अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। निर्वासित होकर कालिदास लंका देश में चले गये और वहां गुप्त रूप से राजनर्तकी के पास रहने लगे। उधर विक्रमादित्य को भी अपनी भूल पर पश्चात्ताप होने लगा और वे स्वयं कालिदास की खोज में उज्जैन नगरी से निकल पड़े। ढूढ़ते-ढूढ़ते वे लंका देश में पहुंचे और जब उनके सम्मान में वहां के नरेश ने नृत्य समारोह का आयोजन किया तो उस अवसर पर उनकी भेंट राजनर्तकी से हुई और उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उन्होंने कहा–

''कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते''

अर्थात् कमला (लक्ष्मी का कमल में से जन्म सुना तो जाता है परन्तु देखा कभी नहीं गया) और तत्काल ही उन्होंने घोषणा की कि जो इस अधूरे पद्य को इसके अनुरुप दूसरी सुंदर पंक्ति रचकर पूर्ण करेगा उसे प्रचुर धनराशि पारितोषिक के रूप में दी जायेगी। राजनर्तकी ने पूरी घटना कालिदास को सुनाई और उनसे इस अपूर्ण पद्य की पूर्ति करने की प्रार्थना की। कालिदास ने तुरन्त ही इस प्रकार पद्य को पूर्ण कर दिया-

''बाले! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्''

अर्थात् हे सुंदरी ! देखो यह कैसा आश्चर्य है कि तुम्हारे कमल जैसे मुख में दो कमल उत्पन्न हुए दिखाई देते हैं। इस पर राजनर्तकी ने पारितोषिक के धन के लोभ में आकर कालिदास की हत्या कर दी।

वाल्मीकि की रामायणी कथा का आँख मूंद कर अनुकरण नहीं किया है। वाल्मीकिकृत रामायण की कथा अयोध्यानगरी में महाराजा दशरथ के राज्य से प्रारम्भ होती है और श्री राम के पुत्रों तथा भाईयों के वृत्तान्त के उल्लेख के साथ समाप्त होती है। परन्तु महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य की कथा श्री राम के पूर्वज राजा दिलीप के वर्णन से प्रारम्भ होती है तथा विषयासक्त कामुक राजा अग्निवर्ण की मृत्यु के वर्णन के साथ अकस्मात् ही समाप्त हो जाती है। कभी-कभी विद्वान् रघुवंश के पौराणिक पात्रों तथा आद्य गुप्त सम्राटों के ऐतिहासिक चरित्र में परस्पर समानता ढूढ़ने का प्रयास करते हैं। परन्तु इस प्रकार की तुलना तथा विस्तार में जाने से पूर्व रघुवंश की विस्तृत विषय सूची को उसके प्रत्येक सर्ग के सारांश के साथ जान लेना अधिक उपयुक्त होगा। अत: सबसे पहले 'रघुवंश' के प्रत्येक सर्ग की विषय वस्तु का सार नीचे क्रमपूर्वक दिया जाता है–

प्रथम सर्ग

वैवस्वत मनु के वंश में महाराज दिलीप नामक सुप्रसिद्ध सम्राट् हुए। मगध देश की राजकुमारी सुदक्षिणा उनकी रानी बनी। दुर्भाग्य से दिलीप को सुदक्षिणा से कोई संतान नहीं हुई। दिलीप इस बात से बहुत खिन्न रहते थे। एक दिन वे सुदक्षिणा को अपने साथ लेकर इस सम्बन्ध में अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुंचे। तब ऋषि ने ध्यान लगाकर राजा के सन्तान न होने का यह कारण ज्ञात किया कि एक बार स्वर्गलोक से भूलोक को लौटते हुए राजा ने मार्ग में खड़ी दिव्य गौ सुरभि (कामधेनु) के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित नहीं किया था। इस उपेक्षावृत्ति से रुष्ट होकर सुरभि ने राजा को शाप दिया कि उसको तब तक सन्तान नहीं होगी जब तक वह उसकी पुत्री नन्दिनी गौ को सेवा से संतुष्ट नहीं कर लेगा। सौभाग्य से सुरभि की पुत्री नंदिनी गौ उस समय ऋषि के आश्रम में ही विद्यमान थी। अत: ऋषि ने राजा को आदेश दिया कि वह अपनी रानी के साथ नंदिनी की सेवा करके उसे प्रसन्न करे और पुत्र-प्राप्ति के लिए उसका आशीर्वाद प्राप्त करे। राजा एवं रानी नियमापेक्षा से महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में मुनिवृत्ति से रहने लगे।

द्वितीय सर्ग

महाराजा दिलीप और महारानी सुदक्षिणा ने परम भक्ति और निष्ठा के साथ नन्दिनी की सेवा आरम्भ कर दी। एक दिन जब राजा दिलीप हिमालय पर्वत के सौंदर्य को मुग्ध होकर देख रहे थे, तो सहसा पर्वत की गुफा से निकलकर किसी सिंह ने नन्दिनी गाय को पकड़ लिया। गौ के प्राणों की रक्षा के लिए राजा ने अपने को बलिदान करना चाहा। धर्मनिष्ठ राजा को प्राणों की अपेक्षा गोरक्षा अधिक प्रिय था। एक गाय की रक्षार्थ चक्रवर्तित्व का बलिदान भारत ही की देन है। परन्तु राजा दिलीप के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब सिंह ने मनुष्य की वाणी में कहा कि वह शिव का सेवक है। उसने राजा को गौ की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने से रोका। राजा फिर भी सिंह से प्रार्थना करते रहे और गौ के स्थान पर उसे अपना शरीर भोजन के रूप में देने का आग्रह करते रहे। राजा की ऐसी बलिदान तथा आत्म-त्याग की भावना को देखकर नन्दिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई और इस सारे रहस्य को खोलते हुए उसने कहा कि उसने राजा की परीक्षा लेने के लिए यह माया रची थी। वस्तुत: वहां कोई सिंह नहीं था। प्रसन्न होकर उस नंदिनी गाय ने राजा को वर दिया कि उसको पुत्र होगा।

तृतीय सर्ग

समय आने पर सुदक्षिणा ने पुत्र को जन्म दिया। इस सर्ग में राजकुमार रघु के जन्म और उसकी शिक्षा का वर्णन है। दिलीप ने अपने पुत्र राजकुमार रघु को अश्वमेध यज्ञ के अश्व का संरक्षक नियुक्त किया। अश्व-रक्षा रूप अपने कर्त्तव्य के पालन में राजकुमार को देवराज इन्द्र के विरुद्ध भी युद्ध करना पड़ा। यद्यपि वे इन्द्र के अधिकार से अश्व को मुक्त कराने में सफल नहीं हुए, तथापि उन्होंने इस साहसिक कार्य से अपने पिता दिलीप

को संतुष्ट कर उनकी इच्छा पूर्ण की। तदन्तर ऋषि के उपदेश से राजा दिलीप प्रजापालन का उत्तरदायित्व अपने पुत्र रघु को सौंप कर स्वयं वन में तपस्या करने के लिए चले गये।

चतुर्थ सर्ग

शासक के रूप में रघु अपने पिता दिलीप से भी श्रेष्ठ सिद्ध हुए। इस सर्ग में कवि ने रघु की दिग्विजय का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए उनकी विजय यात्रा में आने वाले स्थानों, उनके पिता द्वारा किये गये युद्धों तथा उनके हाथों पराजित राजाओं तथा जातियों का ही विशद वर्णन किया है।

पञ्चम सर्ग

दिग्विजय के पश्चात् रघु ने विश्वजित् यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपना सारा धन यज्ञ की दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों में बाँट दिया। इस विश्वजित् यज्ञ के परिणामस्वरूप जब रघु सर्वथा निर्धन हो गये तो एक दिन ऋषि कौत्स दान मांगने के लिए उनके पास पहुंचे। इस पर रघु कुछ समय के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने रहे परन्तु फिर भी उन्होंने धनाधीश कुबेर से ऋषि को देने के लिए आवश्यक धन की याचना की। कुबेर ने प्रसन्न होकर स्वेच्छा से रघु के कोष को स्वर्ण की प्रचुर वर्षा करके भर दिया। ऋषि कौत्स ने अपनी इच्छा पूर्ण हो जाने पर प्रसन्न होकर रघु को आशीर्वाद दिया, तदनुसार उनके अज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब राजकुमार अज युवा हुए तो राजा भोज ने उन्हें अपनी पुत्री इन्दुमती के स्वयंवर में आमन्त्रित किया।

षष्ठ सर्ग

इस सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर का यथार्थ चित्रण है जिसमें राजकुमारी इन्दुमती ने स्वयंवर में आए अन्य राजकुमारों की उपेक्षा करके अज के गले में पुष्पों की माला पहनाकर उन्हें अपना पति चुना।

सप्तम सर्ग

अज और इन्दुमती दोनों का विधिपूर्वक विवाह हुआ। पर जब नव विवाहित दम्पत्ति अयोध्या को लौट रहे थे, मार्ग में स्वयंवर में निराश राजकुमारों ने बदला लेने के लिए उन पर आक्रमण कर दिया। परन्तु अज ने अकेले होने पर भी इन सुसंगठित राजकुमारों का वीरतापूर्वक सामना किया और उन्हें पराजित कर उनके दर्प को नष्ट कर दिया।

अष्टम सर्ग

सम्राट् रघु राजनीति से सन्यास लेकर तपोवन में चले जाते हैं। इस सर्ग में कवि ने बड़ी कुशलता से अज के राज्य तथा उनके पिता रघु के सन्यास की तुलना की है। कुछ काल के पश्चात रघु योग-समाधि द्वारा अपना शरीर त्याग देते हैं और अज से दशरथ नामक पुत्र उत्पन्न होता है। अज पर भीषण विपत्ति आती है। उनकी रानी इन्दुमती पर स्वर्ग से पुष्पों की माला टूट कर गिरती है और उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। इस सर्ग के उत्तरार्द्ध में अज के विलाप का वर्णन है जो सम्पूर्ण रघुवंश में उच्चकोटि का काव्यांश माना जाता है।

नवम सर्ग

विशेष : इस सर्ग से लेकर 15 सर्ग तक रघुवंश की कथा वाल्मीकि की रामायण की कथा से बहुत मिलती है। जब युवराज दशरथ वर्महर अर्थात् शस्त्र धारण करने के योग्य हुए तब अज ने उन्हें राजा नियुक्त किया और स्वयं ''प्रायोपवेशन'' अर्थात् आमरण व्रत आरम्भ कर दिया। इस सर्ग में दशरथ के आखेट का बड़ा ही भव्य वर्णन है जिससे उन्होंने भूल से किसी अन्धे मुनि के पुत्र श्रवण कुमार को मार दिया। अपने पुत्र की मृत्यु पर दु:खी होकर अन्धे मुनि ने शाप दिया कि राजा दशरथ की भी वृद्धावस्था में पुत्र-वियोग के दु:ख में मृत्यु होगी।

दशम सर्ग

दशरथ ने पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से 'पुत्रेष्टि' यज्ञ आरम्भ कर दिया। इसी अवधि में देवताओं ने भगवान् विष्णु से रावण को नष्ट करने की प्रार्थना की। अत: भगवान विष्णु ने दशरथ के पुत्र के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेने का निश्चय किया।

एकादश सर्ग

इस सर्ग में श्रीराम के शैशव का वर्णन है। वे और लक्ष्मण दोनों भाई दुष्ट राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने के लिए मुनि विश्वामित्र के साथ जाते हैं। मार्ग में श्रीराम ताड़का राक्षसी को मारते हैं और विश्वामित्र से अनेक प्रकार के गुप्त अस्त्र प्राप्त करते हैं। विश्वामित्र के यज्ञ के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने पर श्री राम राजा जनक की नगरी मिथिला की ओर प्रस्थान करते हैं और मार्ग में शाप के कारण पत्थर की बनी हुई गौतम की पत्नी अहिल्या का उद्धार करते हैं। मिथिला पहुंचकर राम शिव का विशाल धनुष तोड़ने में अपना पराक्रम दिखाकर बदले में जनक-पुत्री सीता का पाणिग्रहण करते हैं। तब राजा दशरथ को मिथिला में बुलाया जाता है और अन्य पुत्रों लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न का जनक तथा उनके भ्राता कुशध्वज की पुत्रियों के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह होता है। विवाह के बाद जब दशरथ अपने परिवार के साथ मिथिला से अयोध्या लौट रहे होते हैं तब मार्ग में उनकी परशुराम से भेंट होती है जो अपने इष्टदेव शिव के धनुष-भंग का समाचार सुनकर आग-बबूला हो इसका बदला लेने के लिए उद्यत होते हैं। तब राम मदमत्त परशुराम के गर्व को नष्ट कर उन्हें नम्रता का पाठ पढ़ाते हैं तथा अपने विष्णु होने का प्रमाण देते हैं। इसके बाद लोग सुरक्षित तथा प्रसन्न अयोध्या लौटते हैं।

द्वादश सर्ग

इस सर्ग में घटनाओं की भरमार है क्योंकि इसमें रामायण के पांच काण्डों की घटनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। दशरथ ने यह जानकर कि अब वृद्धावस्था आ पहुंची है राम का यौवराज्याभिषेक करके उन्हें अयोध्या का राज-पाट सौंपना चाहा। परन्तु दशरथ की अभिलाषा पर उस समय पानी फिर गया जब कैकेयी ने दशरथ से राम का वनवास और भरत का राज्याभिषेक मांगा। राम 14 वर्ष के लिए वनवास को चले गये और वहां रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। सुग्रीव और हनुमान जैसे वानरों की सहायता से राम ने अन्य राक्षसों सहित रावण का वध किया और अग्नि द्वारा सीता को पवित्र घोषित कर दिये जाने पर उन्होंने उसे पुन: स्वीकार कर लिया।

त्रयोदश सर्ग

इस सर्ग और विगत सर्ग (12) में इस दृष्टि से वैषम्य है कि जहां पिछले सर्ग में घटनाओं की भरमार है वहां इस सर्ग में केवल एक ही घटना का विशद चित्रण है और यह घटना है–राम, लक्ष्मण और सीता के आकाश मार्ग से विमान द्वारा लंका से अयोध्या तक की यात्रा। वर्णन की दृष्टि से इस सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। इस सर्ग में समुद्र का, प्रयाग में गंगा-यमुना नदियों के संगम का तथा जनस्थान से तपोवनों का वर्णन अत्यन्त मोहक है और कालिदास की संवेदना जमकर खिली है।

चतुर्दश सर्ग

अयोध्या लौटकर राम अपनी विधवा माता से मिलते हैं। राम के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में अयोध्या में कुछ समय के लिए फिर उत्सवों की धूम मच जाती है। परन्तु हर्ष और उल्लास की यह बहार अधिक समय तक नहीं रहती क्योंकि राम को जब अपने गुप्तचर से ज्ञात होता है कि अयोध्या के (एक) धोबी नागरिक को सीता के चरित्र पर, रावण के घर में उसके निवास करने के कारण, सन्देह है तो उन्हें विवश होकर न चाहते हुए भी सीता का परित्याग करना पड़ता है। इस व्यवहार से सीता को अपने जीवन के प्रति गहरी अरुचि हो

जाती है। परन्तु फिर भी आत्महत्या न कर इसलिए जीवित रहना चाहती है क्योंकि उसके गर्भ में राम की वंशधर सन्तान है। वन में परित्यक्ता दुःखी सीता को वाल्मीकि सान्त्वना देते हैं और उसे अपने आश्रम में ले जाते हैं। वहां सीता, समय आने पर जुड़वां बालकों (लव और कुश) को जन्म देती है।

पंचदश सर्ग

बारहवें सर्ग के समान यह सर्ग भी घटनाओं से भरा पड़ा है। सर्ग के आरम्भ में यमुना तट के निवासी ऋषि-मुनि, दुष्ट 'लवण' से अपनी रक्षा करने के लिए राम से प्रार्थना करते हैं। तब राम द्वारा नियुक्त शत्रुघ्न 'लवण' का वध कर देते हैं। अयोध्या में किसी ब्राह्मण बालक की अकाल मृत्यु हो जाती है और उस बालक को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से राम को शूद्र होने पर भी तप करते हुए शम्बूक शूद्र की हत्या करनी पड़ती है। राम अश्वमेघ यज्ञ करते हैं जिसमें राम के पुत्र, कुश और लव उपस्थित होते हैं जो वाल्मीकि द्वारा रचित 'राम-कथा' गाकर सुनाते हैं। वाल्मीकि और राम के आग्रह करने पर सीता प्रजा के सामने उपस्थित होती है किंतु तभी पृथ्वी माता से प्रार्थना करती है कि यदि उसका (सीता का) चरित्र निष्कलंक और पवित्र है तो वह (पृथ्वी) अपनी गोद में स्थान दे दे। सीता की इच्छा पूर्ण होती है और वह पृथ्वी की गोद में समा जाती है। इस घटना से राम अत्यंत व्यथित हो उठते हैं और वे अपने राज्य को अपने तथा भाइयों के पुत्रों में विभक्त कर साकेतधाम चले जाते हैं। राक्षसों के नाश का उनका लक्ष्य पूरा हो गया। यहीं पर कथावस्तु का मुख्य भाग सम्पूर्णता को प्राप्त करता है।

पोडश सर्ग

इस सर्ग में घटनाओं का उलटा क्रम चलता है। सूर्यवंश के यशस्वी राजाओं की उज्जवल परम्परा का पर्यवसान होने से सूर्यवंश का पतन प्रारम्भ हो जाता है। राम के पुत्र कुश, जिन्होंने अयोध्या के बदले कुशावती को अपनी राजधानी बनाया एक दिन स्वप्न में अयोध्या नगरी की अधिष्ठाती देवी को अपने सम्मुख खड़ा देखते हैं जो उन्हें बताती है कि कुशावती के राजधानी बन जाने से अयोध्या नगरी की दशा बहुत बुरी हो गई है। अतः कुश फिर अयोध्या को अपनी राजधानी बना लेते हैं। एक बार सरयू नदी में जल क्रीड़ा करते हुए कुश के हाथ का कंकण जल में गिरकर खो जाता है। सर्पों के राजा कुमुद कुश को कंकण लौटाते हुए अपनी बहन कुमद्वती को भी उसे अर्पित कर देते हैं।

सप्तदश सर्ग

इस सर्ग में कुमद्वती से उत्पन्न कुश के पुत्र 'अतिथि' राजा के सफल शासन का बहुत विस्तृत वृतान्त है।

अष्टादश सर्ग

इस सर्ग में अनेक राजाओं का उल्लेख आता है परन्तु उनके नाम को गिनाने के सिवाय उनके विषय में और कुछ नहीं कहा गया है।

एकोनविंशति सर्ग

इसमें रघुकुल के अन्तिम सम्राट् अग्निवर्ण का वर्णन है जो अत्यन्त विषयासक्त और स्त्री लम्पट होने के कारण क्षय रोग से पीड़ित होकर मर जाता है।

रघवंश महाकाव्य की समीक्षा

रघुवंश की उपयुक्त कथावस्तु को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि महाकवि कालिदास पर आदिकवि वाल्मीकि का प्रभाव स्पष्ट है तथापि दोनों में वह अन्तर स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण में सूर्यकुल के राजाओं

की वंशावली का जो क्रम उल्लखित है, रघुवंश में उसका अक्षरश: अनुकरण नहीं हुआ है, अपितु रामायण से रघुवंश का क्रम भिन्न है।[1] रघुवंश में वर्णित सूर्यकुल के राजाओं की वंशावली का क्रम रामायण की अपेक्षा वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में अंकित क्रम से, विशेष रूप में वायुपुराण के क्रम से बहुत मेल खाता है।[2] वास्तव में देखा जाये तो रघुवंश में 19 सर्गों में से केवल सात सर्गों की कथा ही वाल्मीकि-रामायण की कथा के साथ-साथ चलती है। वहां भी हमें दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट दिखायी देता है क्योंकि रघुवंश में कालिदास वाल्मीकि के समान न तो राम के चरित्र पर अधिक बल देते हैं और न ही वे कथा के इस भाग को सत्य और असत्य अथवा आर्यों तथा अनार्यों (राक्षसों) के मध्य संघर्ष की कथा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सच पूछा जाये तो कालिदास के काव्य के नायक केवल राम नहीं अपितु राम के पूर्वज, विशेष रूप से दिलीप और रघु भी प्रतीत होते हैं।

रघुवंश की रचना में कालिदास का उद्देश्य तुलनात्मक चित्रण प्रस्तुत करना दिखायी देता है। सम्भवत: अग्निवर्ण की कथा द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि उच्च तथा अभिजात वंश में उत्पन्न व्यक्ति भी यदि प्रेम के साथ खिलवाड़ करते हैं तो उनका भी शोचनीय अन्त होता है।

डाक्टर कीथ[3] का विचार है कि रघुवंश में कालिदास की योगदर्शन की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखायी देती है क्योंकि उन्होंने योगदर्शन की परिभाषिक शब्दावली जैसे 'धारणा', 'वीरासन' तथा ''समाधि'' का उल्लेख करने के अतिरिक्त अपने काव्य के नायकों को भी योग द्वारा शरीर परित्याग करते तथा जन्म बन्धन से मुक्त होते बताया है। उन्होंने योग के द्वारा प्राप्त होने वाली अद्भुत शक्तियों का उल्लेख भी किया है जैसे-दरवाजे के बन्द होने पर भी भीतर प्रवेश करने की शक्ति तथा सीता की योग तथा अगले जन्म में अपने पति से पुनर्मिलन की प्राप्ति की कामना आदि।

संस्कृत काव्य शास्त्र की दृष्टि से रघुवंश श्रव्य (अर्थात् वह काव्य जो केवल पढ़ा और सुना ही जाता है, नाटक आदि दृश्य काव्य के समान रंगमंच पर नहीं देखा जाता) काव्य है। वह श्लोकों में बंधा प्रबन्ध काव्य (वह काव्य जिसकी कथावस्तु समग्र एवं अविच्छिन्न चलती है) और संस्कृत के महाकाव्यों की श्रेणी में अग्रगण्य है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में महाकाव्य का निम्नलिखित लक्षण दिया है–

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर: ।
सद्वंश्य: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित: ।।
एकवंशभवा भूपा: कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृõारवीरशान्तानामेकोऽõी रस इष्यते ।।
अõानि सर्वेऽपि रसा: सर्वे नाटकसन्धय: ।
इतिहासोjवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।।
चत्वारस्तस्य वर्गा: स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।।

---

1 कल्प-भेद से लीला-भेद एवं पूर्वज संज्ञा-भेद भी सम्भव ही है। सम्भवत: रघुवंशम् महाकाव्य एवं वायुपुराण का आधार का कल्प रहा होगा तथा आदिकवि वाल्मीकि विरचित रामायण महाकाव्य की कथा का आधार भिन्न कल्प रहा हो। कल्पभेद शंका निवारण में प्रभूत सहायक सिद्ध होता है।

2 भास के प्रतिमा नाटक में भी राम के पूर्वजों का उसी क्रम से वर्णन मिलता है जिस क्रम से रघुवंश में प्रस्तुत किया गया है।

3 कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 45 ।

क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मृनिस्वर्गपुरध्वराः।।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोग्यं साõksikõks veh bgAA (साहित्यदर्पण 6, 315-342)

महाकाव्य वह रचना है जो सर्गों में विभक्त होती है। इसका नायक देवता अथवा उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय होता है जिसमें धीरोदात्त गुण होते हैं। कहीं कहीं महाकाव्य में एक वंश में उत्पन्न सत्कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। श्रृंगार, वीर, शान्त इनमें से कोई एक रस महाकाव्य का अõी अर्थात् प्रधान रस होता है तथा अन्य रस इसमें गौण अर्थात् अप्रधान होते हैं। इसमें सब नाट्य-सन्धियाँ रहती हैं। इसकी मुख्य कथा या तो ऐतिहासिक होती है अथवा सज्जनकुलीन व्यक्ति से संबंधित कोई प्रसिद्ध कथा होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस चर्तुवर्ग में से कोई एक महाकाव्य का फल होता है। इसके आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या इसमें वर्णनीय वस्तु का निर्देश होता है। इसमें प्रसõानुसार कहीं दुष्टों की निन्दा और कहीं सज्जनों के गुणों का वर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे, और न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है। किन्तु सर्ग के अन्तिम पद्य का छन्द पूरे सर्ग में प्रयुक्त एक ही छन्द से भिन्न होता है। कहीं कहीं एक सर्ग में एक छन्द के प्रयोग की अपेक्षा अनेक छन्दों का प्रयोग भी मिलता है। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग में आने वाली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें जहां जहां आवश्यक हो, वहां वहां संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, मृगया (शिकार), पर्वत, (छह) ऋतुएं, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र का जन्म, अभ्युदय (उन्नति), ऐश्वर्य आदि का यथोचित साõोपांõ वर्णन होना चाहिये।

यदि हम महाकाव्य की उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करके देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाकाव्य की परिभाषा में दो भाग हैं—अङ्गी अर्थात् प्रमुख भाग तथा अX अर्थात् सहायक या गौण भाग। प्रथम अर्थात् प्रमुख भाग में महाकाव्य के उन आवश्यक गुणों का सन्निवेश होता है जिनके अभाव में काव्य को महाकाव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इस प्रसंग में यह बात विचारणीय है कि साधारणतया काव्य रचना का प्रयोजन जीवन का उल्लासपूर्ण चित्रण माना जाता है। कवि की कृति तभी महान हो सकती है जबकि उसमें मानव के विस्तीर्ण और नानाविध जीवन का उसके पूर्णरूप में समावेश हो। मानव-जीवन को उसकी समग्रता में जानने के लिए तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—मानव का व्यक्तित्व, समाज के ढांचे में उसकी स्थिति और उसका उत्तरदायित्व तथा उसके चारों और फैली विशाल प्रकृति से उसका सम्बन्ध। इसीलिए तो महाकाव्य की परिभाषा में एक और नायक, मनोभाव, कथा, सूर्योदय, संध्या, ऋतुओं तथा पर्वतों तथा दूसरी ओर नगरों, विवाहों, युद्धों आदि के वर्णन के विषय में नियमों का विधान किया गया है जिससे मानव जीवन का सम्पूर्ण चित्र विविधता तथा विस्तार के साथ महाकाव्य में उतर सके।

महाकाव्य की परिभाषा का दूसरा भाग उसके बाह्य आकार या रूप से, जो प्रथम भाग की अपेक्षा गौण है, सम्बद्ध है, जैसे–महाकाव्यों में सर्गों की संख्या का निर्धारण तथा एक सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग का विधान आदि। महाकाव्य के विषय में आचार्य दण्डी का कथन समीचीन है कि–

''न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति'' (काव्यादर्श 1.20)

(अर्थात् महाकाव्य में उपर्युक्त परिभाषा में से कुछ अंगों की कमी भी हो तो भी उसमें दोष नहीं माना जाता।)

इस प्रकार दण्डी के मत में, महाकाव्य के उपयुक्त नियमों में से कुछ नियमों की कमी भी रह जाये तो भी वह ग्राह्य है, उसमें दोष नहीं आता।

रघुवंश में सर्वप्रथम अद्भुत बात यह है कि इस काव्य के पात्रों में से हम किसी एक को इसका नायक नहीं कह सकते। प्रत्युत वैवस्वत मनु के वंश में जन्म लेने वाले अनेक प्रतापी सम्राट् इसके नायक हैं। दिलीप, रघु, राम जैसे यशस्वी नरेशों में धीरोदात्त नायक के सभी गुण जैसे– साहस, संयम, औदार्य आदि विद्यमान हैं।

रघुवंश की कथा सुप्रसिद्ध है तथा रामायण और पुराणों से ग्रहण की गई है। यह कथा अत्यन्त रोचक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी है क्योंकि इसमें स्त्री पुरुष सभी प्रकार के पात्रों के जीवन के विविध रूपों में चित्रण करते हुए उनके उत्थान और पतन के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। जिस राजवंश ने अनेक महान् और आदर्श राजाओं को जन्म दिया, उसी के अन्तिम उत्तराधिकारी को बहुत दुर्बल और विलासी चित्रित किया गया है।

इस काव्य का अंगी अर्थात् प्रधान रस तो श्रृंगार है परन्तु अन्य रसों का–जैसे रघु के दिग्विजय के प्रसंग में वीर, अजविलाप में करुण, रघु के सन्यास में शान्त तथा सरयू नदी के जल में से कुमुद के आविर्भाव में अद्भुत रस का प्रयोग भी प्रशंसनीय तथा प्रभावोत्पादक है। इस प्रसंग में ''राइडर'' महोदय की निम्नलिखित उक्ति ध्यान देने योग्य है–

हमें रघुवंश को ऐसा काव्य समझना चाहिये जिसमें नैसर्गिक कथा की अपेक्षा उसमें आई अकेली घटनाओं का पाठक पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

रघुवंश में प्रकृति तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों के वर्णनों की प्रचुरता है। जैसे–13वें सर्ग में समुद्र तथा प्रयाग स्नान में गंगा, यमुना नदियों के संगम का वर्णन, चौथे सर्ग में रघु की दिग्विजय, सातवें सर्ग में इन्दुमती का स्वयंवर, दसवें सर्ग में आखेट विहार तथा 16वें सर्ग में उजड़ी हुई अयोध्या के वर्णन विशेष रूप से उल्लेख के योग्य हैं।

इस महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण से होता है जिसमें कवि जगत् के माता पिता भगवान् शिव और भगवती पार्वती को प्रणाम करके उनके प्रति अपनी भक्ति व्यक्त करता है। जैसाकि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, रघुवंश के 19 सर्ग हैं जिनमें कवि ने एक पूरे सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया है, केवल सर्ग के अन्तिम श्लोक में परिवर्तन के उद्देश्य से भिन्न छन्द का प्रयोग किया है। इन सर्गों के अन्त में परिवर्तन के उद्देश्य से प्रयुक्त कालिदास के प्रिय छन्द हैं– अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, मालिनी, वसन्ततिलका तथा पुष्पिताग्रा। सम्पूर्ण महाकाव्य में भाषा मधुर तथा सरल है। यह विविध अलंकार से विभूषित है जिनमें ''उपमा'' अलंकार प्रमुख है। कालिदास में भाषा को अलंकारों से लादने की प्रवृत्ति नहीं है इसके विपरीत वे शब्दालंकारों का तो बहुत कम प्रयोग करते हैं और अर्थालंकारों का भी अलंकारों का भी अलंकारों के प्रदर्शन के उद्देश्य से नहीं अपितु रस और भाव-पोषण के लिए ही प्रयोग करते हैं। कालिदास की भाषा काव्य के गुणों–'प्रसाद' और 'माधुर्य' से सुशोभित है और इस कारण से उनकी काव्यशैली 'वैदर्भी' मानी जाती है।

इन विशिष्ट गुणों के कारण ही रघुवंश को महाकाव्य का एक आदर्श उदाहरण माना जाता है और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि संस्कृत के आलोचकों ने इसके मूल्य को परखते हुए इसकी प्रशस्ति में यहां तक कह दिया है कि–

''क इह रघुकारे न रमते।''

अर्थात् कौन है जो रघुकार—रघुवंश के लेखक महाकवि कालिदास द्वारा रचित महाकाव्य में आनन्द से झूम नहीं उठता?

सहायक ग्रन्थः

(1) **'महाकवि कालिदास'**–वासुदेव विष्णु मिराशी

(2) **'संस्कृत साहित्य का इतिहास'**–डॉ. ए. बी. कीथ

(3) **'महाकवि कालिदास' (अंग्रेजी)**–के. सी. रामास्वामी शास्त्री

(4) **'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (अंग्रेजी)**–डॉ. एस. के. डे

(5) **'बिब्लियोग्राफी आफ कालिदास'**–डॉ. एस. पी. नारंग

(6) **'कालिदास की लालित्य योजना'**–आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(7) **'महाकवि कालिदास'**–रमाशंकर त्रिपाठी

(8) **'संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास'**–कृष्ण चैतन्य (हिन्दी रुपान्तर : रामकुमार राय)

पाठ 2

महाकाव्य रघुवंश (प्रथम सर्ग): मूल पाठ, अनुवाद तथा टिप्पणियां*

(पाठ एक से आगे का भाग)

वागर्थाविव सम्पृQ्ौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ H 1H

अन्वयः–(अहं कालिदासः) वागर्थप्रतिपत्तये वागर्थाविव सम्पृQ्ौ जगतः पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दे।

अनुवादः–शब्द और अर्थ को भली प्रकार समझने के लिए मैं (कालिदास) शब्द और अर्थ की तरह नित्य सम्बद्ध (एकरूप) तथा संसार के माता-पिता पार्वती तथा भगवान् शंकर को प्रणाम करता हूँ।

टिप्पणियां–संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यों के अनुसार महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वस्तुनिर्देशपूर्वक होना चाहिये- ''**आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।**'' अतः रघुवंश महाकाव्य भगवान् शिव तथा भगवती पार्वती (जगत् के माता पिता) की वन्दना के साथ प्रारम्भ होता है–''**ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन ग्रन्थपरिसमाप्तिकामः कविः मंXलाचरणम् करोति।**''

सम्पृQ्ौ–सम् उपसर्ग+धातु पृच्+Q , परस्पर जुड़े हुए, नित्य (अर्थात् अविच्छिेद्य रूप से) सम्बद्ध।

वागर्थाविव–शब्द और उसके अर्थ के समान। वाक् च अर्थश्च वागर्थौ तौ इव। जिस प्रकार शब्द एवं अर्थ का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार से भगवान् शंकर एवं भगवती पार्वती भी नित्य सम्बद्ध हैं।

शिव पार्वती के प्रतीक के माध्यम से कालिदास ने पुरुष-नारी के अभिन्न सम्बन्ध की महती कल्पना को उजागर किया है। सचमुच कालिदास उस भारतीय मनीषा के प्रतिनिधि व्याख्यता कवि हैं, जो उस अभिन्न इकाई को खोज पाने में समर्थ हुई है जो व्यक्ति-व्यक्ति के देहात्मक द्वैत को इंगित करने वाली इकाई से कहीं अधिक गहरी और अर्थवान् है। यहां हमें उस असाधारण पूर्णता की विशद अवधारणा से साक्षात्कार होता है जो व्यक्तिगत अहम् की सीमाओं को लांघ कर एक दूसरे में अपनी सत्यता को प्राप्त करती है। 'अर्धाX' और 'अर्धनारीश्वर' की जिस कल्पना ने भारतीय कला में मूर्तत्ता प्राप्त की, वह इसी सत्य का प्रमाण है। अन्य स्थलों पर कालिदास कहते हैं–

स्त्रीपुंसौ आत्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ।। (कुमारसम्भव 2.17)

इसी अवधारणा के समानान्तर वैयाकरण-चिन्तक भर्तृहरि के ग्रन्थ वाक्यपदीयम् में 'शब्दब्रह्म' की दार्शनिक कल्पना हुई जिसने शब्द और अर्थ की अद्वैतता पर बल दिया।

टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार 'वागर्थाविव' एक शब्द है। इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्न उद्धरण भी अपनी टीका में अंकित किया है–

''**इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्चेति वक्तव्यम्।**'' अव्ययीभाव समास, सम्पृक्तौ का विशेषण।

***महत्त्वपूर्ण नोटः** रघुवंश के प्रथम सर्ग के मूल पाठ में केवल श्लोक हैं और वे सभी (1-95 तक) श्लोक संख्या (उदाहरणतया **H 1H**) के साथ बोल्ड प्रिन्ट में दिये गये हैं। प्रत्येक श्लोक के बाद उसका अन्वय, अनुवाद और टिप्पणियां दी गई हैं।

वागर्थप्रतिपत्तये–शब्द और उसके अर्थ के सम्यक् ज्ञान के लिए। प्रतिपत्ति का अर्थ है–सम्यक् ज्ञान। प्रति उपसर्ग+धातु पद्+ि न्। वाक् च अर्थश्च इति वागर्थौ (द्वन्द्व समास) वागर्थयो: प्रतिपत्ति: इति वागर्थप्रतिपत्ति: तस्यै (षष्ठी तत्पुरुष)।

पितरौ–माता च पिता च पितरौ-(एकशेषद्वन्द्व)। सूत्र है– **''पिता मात्रा'' (मात्रा सहोक्त: पिता वा शिष्यते)** अर्थात् माता शब्द के साथ पितृ शब्द आये तो विकल्प से केवल पिता शेष रहता है। यहां पितरौ शब्द इस तथ्य का सूचक है कि शिव-पार्वती समस्त संसार के जनक, परम कारुणिक तथा इष्ट वस्तुओं के प्रदाता हैं (मल्लिनाथ)। इस श्लोक में उपमा अलंकार है। इस श्लोक में शिव-शक्ति, श्यामतेज एवं गौरतेज की पारमार्थिक अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। शक्ति के बिना शक्तिमान् की कल्पना भी असंभव है– **''शिव: शQ Kı युQ ो प्रभवति यदि स्पन्दितुमपि'' (सौंदर्यलहरी)।**

क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्व चाल्पविषया मति: ।
तितीषुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् H 2H

अन्वय:–सूर्यप्रभव: वंश: क्व, अल्पविषया (मम) मति: च क्व, (अहं) दुस्तरं सागरं मोहात् उडुपेन तितीर्षु: अस्मि।

अनुवाद:–कहां तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुकुल) और कहां सीमित ज्ञान वाली मेरी बुद्धि (दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है)। तथापि मैं उसे (रघुकुल को) मोहवश (मूर्खतावश) उसी प्रकार पार करना (वर्णन करना) चाहता हूँ जैसे कोई छोटी डोंगी (नौका) से दुस्तर (कठिनता से पार किये जाने योग्य) समुद्र को पार करना चाहता हो।

टिप्पणियां :

क्च– क्च शब्द का दो बार प्रयोग इस तथ्य को प्रकट करता है कि भगवान सूर्य से उत्पन्न रघुवंश (की महत्ता) एवं महाकवि कालिदास की प्रतिभा में महान अन्तर है। **''द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयथ:''। (मल्लिनाथ)**

सूर्यप्रभव– सूर्य: प्रभव: यस्य इति सूर्यप्रभव: (बहुव्रीहि), वंश का विशेषण। वह वंश जिसका जन्म (आरम्भ) सूर्य से हुआ है अर्थात् सूर्यवंश (रघुवंश)।

अल्पविषया– अल्प: विषय यस्या सा अल्पविषया (बहुव्रीहि), मति: का विशेषण। सीमित है (ज्ञान का) विषय जिसका ऐसी मेरी बुद्धि, सीमित ज्ञान रखने वाली मेरी बुद्धि। देखिये– **'कवि न होहूं न चतुर कहाऊ'' (तुलसीदास)**

तितीर्षु:– तरितुं इच्छु:, (धातु तृ+सन्+उ) तैरने अर्थात् पार करने की इच्छा करने वाला मैं (कालिदास)।

दुस्तरम्– दु:खेन तरितुं शक्यम् 'सागर' का विशेषण। वह समुद्र जिसे पार करना बड़ा कठिन है, कष्ट से पार करने के योग्य। यहां दुस्तर सागर से अभिप्राय रघुवंश से है।

उडुपेन– छोटी नौका, डोंगी। यह स्पष्ट संकेत अल्पविषया कवि-बुद्धि से है।

मन्द: कवियश: प्रार्थी गमिष्यामुपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामन: H 3H

अन्वय:– मन्द: कवियश: प्रार्थी प्रांशुलभ्ये फले लोभाद् उद्बाहु: वामन इव उपहास्यतां गमिष्यामि।

अनुवाद:– लम्बा मनुष्य ही जिस फल को प्राप्त कर सकता है उसे पाने के लोभ से यदि एक बौना (वामन) अपना हाथ उपर उठाये तो उसकी हंसी ही होगी। उसकी प्रकार मन्द बुद्धि होने पर भी (महान्) कवियों का यश चाहने वाला मैं (भी) उपहास का पात्र ही बनूंगा।

टिप्पणियां:

कवियशः प्रार्थी– कवीनां यशः कवियशः तस्य प्रार्थी (तत्पुरुष)। कहा गया है–

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां वशः काये जरामरणजं भयम्।।

प्रांशुलभ्ये– प्रांशुना लभ्ये (तत्पुरुष), 'फले' का विशेषण। वह फल जिसे लम्बे कद का (प्रांशु) मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। लम्बे मनुष्य द्वारा ही प्राप्य फल।

उद्‌बाहुः– उद्‌गतो बाहुः यस्य सः उद्‌बाहुः (बहुव्रीहि)।

वामनः– बौना, छोटे कद वाला मनुष्य।

लोभात्– लोभ के कारण। ''हेतौ'' से हेतु के कारण पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग।

उपहास्यताम्– उप उपसर्ग, धातु हस्+ण्यत्+तल्। उपहास की पात्रता।

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः H 4H

अन्वयः– अथवा पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारे अस्मिन् वंशे वज्रसमुत्कीर्णे मणौ सूत्रस्य इव मे गतिः अस्तिः।

अनुवादः– (यद्यपि सूर्यवंश का वर्णन कर पाना मेरे लिए कठिन है तथापि) प्राचीन मनीषियों (वाल्मीकि-आदि कवियों) ने इस (कुल) का वर्णन करके इसमें वाणी का (प्रवेश) का द्वार खोल दिया है। अतः इस कार्य में मेरा प्रवेश (गति) उसी प्रकार संभव हो गया है जिस प्रकार हीरे की सूई से छिदी हुई मणि में धागा आसानी से प्रविष्ट हो जाता है।

टिप्पणियाँ:

पूर्वसूरिभिः– 'सूरि' का अर्थ है नूतन विचारों का प्रवर्त्तक, कवि। प्राचीन कवियों– महर्षि वाल्मीकि आदि के द्वारा।

कृतवाग्द्वारे– वाक् एव द्वारम् वाग्द्वारम् (कर्मधारय), कृतं वाग्द्वारं यस्य सः कृतवाग्द्वारः (बहुव्रीहि), तस्मिन् कृतवाग्द्वारे। 'वंशे' का विशेषण; वह सूर्यवंश जिसका वाणीरूप द्वार वाल्मीकि ने रामायण प्रबंध की रचना करके आने वाले कवियों के लिए खोल दिया है। अर्थात् वह सूर्यवंश जिसमें प्रवेश के लिये वाल्मीकि रामायण काव्यद्वार का कार्य करता है। ठीक यही दशा महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित महाभारत की भी है। उसके माध्यम से मेरे (कालिदास) जैसे मन्द बुद्धि कवि का भी उसमें प्रवेश करना सरल हो गया है।

वज्रसमुत्कीर्णे– वज्रेण समुत्कीर्णः (सम् उपसर्ग+उत् उपसर्ग+धातुकृ+Q) वज्रसमुत्कीर्णः (तत्पुरुष), तस्मिन्, वज्रसमुत्कीर्णे। 'मणौ' का विशेषण। वह मणि जिसमें हीरे की कनी से छिद्र कर दिया गया है।

मणि बड़ी कठोर होती है। परन्तु जब उसमें छिद्र कर दिया जाता है तो कोमल धागा भी उसमें आसानी से पिरोया जा सकता है। उसी प्रकार सूर्यवंश की महिमा का वर्णन करना भी कालिदास के लिए अनबिंध मणि में धागा डालने के समान बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु जैसे छिद्र हो जाने से मणि में धागा पिरोना सरल हो जाता है उसी प्रकार वाल्मीकि द्वारा सूर्यकुल पर रामायण काव्य की रचना कर देने से इस कठिन काम को भी कर देना अब कालिदास के लिए सरल हो गया है। कवि कालिदास की सूर्य कुल के नृपतियों पर काव्य रचना करने की उच्चाभिलाषा अब फलोन्मुखी हो सकती है क्योंकि आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर उसके लिए मार्गदर्शन कर दिया है। कालिदास के ये वचन उनकी नम्रता तथा शालीनता के

सूचक हैं कि महाकवि की क्षमता होने पर भी उन्हें तनिक भी अभिमान नहीं छू गया है। कहा भी गया है

विद्या ददाति विनयम्, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद् धर्मस्ततः सुखम्।।

सूत्रस्य- तागे (धागा, डोरी) के (समान)

गतिः- गम्+ि न् (प्रवेश)

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् H 5H

अन्वयः– सः अहम् आजन्मशुद्धानाम् आफलोदयकर्मणाम् आसमुद्रक्षितीशानाम् आनाकरधवर्त्मनाम् (रघुणाम् अन्वयं वक्ष्ये)।

अनुवादः– वह (मन्दमति) मैं (कालिदास)– जन्म से ही शुद्ध, फल प्राप्ति तथा कर्म में लीन, समुद्रपर्यन्त विस्तृत पृथ्वी के शासक तथा स्वर्ग तक गये हुए रथ के मार्ग वाले (रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा)।

टिप्पणियाँ:

विशेष– 5 से 9 तक पांच श्लोक इक_` पढ़ने चाहिये क्योंकि वे परस्पर सम्बद्ध हैं और इन सब के मेल से एक बड़ा वाक्य बन जाता है। इसमें अपने-आप अकेला पद्य अपरिपूर्ण है और उसे अन्वय के लिए अन्य पद्यों की आकांक्षा (अपेक्षा, आवश्यकता) है। संस्कृत में अकेला श्लोक जब अपने में परिपूर्ण होता है और अन्य श्लोक की अपेक्षा नहीं रखता तो ऐसे श्लोक को मु क कहते हैं। परन्तु परस्पर सापेक्ष दो श्लोकों के समूह को युग्मक कहते हैं। परस्पर सापेक्ष तीन श्लोकों के समूह को 'सन्दानितक' तथा ऐसे ही चार श्लोकों के समूह को 'कपालक' तथा पांच श्लोकों के समूह को 'कुलक' कहते हैं। यहां श्लोक संख्या 5 ''सोऽहमाजन्म''- से लेकर श्लोक संख्या 9 ''रघूणामन्वयं वक्ष्ये'' तक पांच श्लोकों का समूह 'कुलक' है। पहले चार श्लोक पांचवे श्लोक 'रघुणाम...' से सम्बद्ध हैं। अतः ये पाँचो श्लोक अर्थ को समझने के लिए इक_` ही पढ़े जाने चाहिये। इसका अन्वय इस प्रकार होगा। **''सोऽहम् आजन्मशुद्धानाम् रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये''** यहां 'रघूणाम्' विशेष्य पद है और **''आजन्मशुद्धानाम्'', ''आफलोदयकर्मणाम्''** आदि षष्ठी बहुवचनान्त पद 'रघूणाम्' के विशेषण है तथा 'रघूणाम्' इनका विशेष्य है।

आजन्मशुद्धानाम्– आजन्मनः ('आङ् मर्यादाभिविध्योः'। अव्ययीभाव समास) शुद्धाः ये, तेषाम्-आजन्मशुद्धनाम् (सुप्सुपा से समास)। अर्थ है–जन्म से लेकर शुद्ध। सूर्यवंश के सम्राट् जन्म से शुद्ध होते थे क्योंकि उनके गर्भाधान आदि शास्त्रविहित संस्कारों का विधिवत् समुचित काल में अनुष्ठान किया जाता था। संस्कारों से पवित्र होकर उनका जन्म होता था। अतः वे आजन्म शुद्ध होते थे। देखिये– **''उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः। तीर्थोदकञ्चं वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः।।''** (भवभूति-विरचित 'उत्तररामचरितम्')

आफलोदयकर्मणाम्– फलस्य उदयः, फलोदयः (षष्ठी तत्पुरुष), आ फलोदयात् इति आफलोदयम् (अव्ययीभाव), आफलोदयं कर्म येषां ते, आफलोदयकर्माणः (बहुव्रीहि), तेषाम्- आफलोदयकर्मणाम्।

वे रघुवंशी सम्राट् जो तब तक कार्य करने में जुटे रहते थे जब तक सफलता प्राप्त नहीं होती थी। वे प्रारब्ध या अंगीकृत कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ते थे, कभी भी अधूरा नहीं छोड़ते थे। शब्दार्थ है– फल (सफलता) के उदय (प्राप्ति) तक काम करने वाले। देखिये– **''प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति''** (नीतिशतक)।

आनाकरथवर्त्मनाम्– न के कं अकं (सुख का अभाव), न अकं यत्र स नाकः (सुख के अभाव (दुःख) का अभाव=स्वर्ग यहां न का अन् में परिवर्तन नहीं हुआ है। आनाकं रथवर्त्म येषां (बहुव्रीहि) तेषाम्।

कालिदास के नायक अत्यन्त पराक्रमी तथा वीर है। स्वर्गलोक में रहने वाले देवताओं, विशेष रूप से इन्द्र को भी उनसे असुरों के नाश में सहायता लेना पड़ती है। अतः वे बहुधा देवलोक में आते जाते हैं। उनके रथ का मार्ग भूलोक ही नहीं, देवलोक तक फैला है। महाराजा दशरथ की कथा तो लोकविश्रुत है। वे देवासुर संग्राम में देवराज इन्द्र के निमन्त्रण पर स्वर्ग से युद्ध के लिए गये। साथ में उनकी रानी कैकेयी भी गयी। वहां रथ के पहिये की कील के गिर जाने पर उसने अपने हाथ (अंगुलियों) से रथ की रक्षा की और दो (राम का वनवास और भारत को राज्य प्राप्ति) वर प्राप्त किये।

नाक– स्वर्ग, **वर्त्मन्**- मार्ग। जिनके रथ का मार्ग स्वर्ग तक गया है।

आसमुद्रक्षितीशानाम्– आसमुद्रात् इति आसमुद्रम् (अव्ययीभाव) आसमुद्रम्, क्षितीशाः इति आसमुद्रक्षितीशाः, तेषाम्। अर्थ है– समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के राजाओं का। समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर शासन राजाओं का आदर्श होता था। ऐतरेय ब्राह्मणा (8,41) कहता है कि उत्तम राजा वह है जिसके राज्य की सीमा पृथ्वी की प्राकृतिक सीमाओं तक व्याप्त है। **क्षितीशानाम्**=क्षिति (पृथ्वी)+ईश (स्वामी) पृथ्वी के स्वामी, उनका।

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् H 6H

अन्वयः– यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् (रघूणां अन्वयं वक्ष्ये)।

अनुवादः– विधिपूर्वक अग्नि में हवन करने वाले (यज्ञ करने वाले), याचकों की इच्छानुसार उन्हें (धनादि) देने वाले, अपराध के अनुसार (दुष्टों को) दण्ड देने वाले अथवा ठीक समय पर जागने वाले (प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में जागने वाले तथा समय आने पर सतत जागरुक रहने वाले)- रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा।

टिप्पणियां:

यथाविधि–विधिमनतिक्रम्य (अव्ययीभाव)। यथाविधि हुताः अग्नयः यैः ते (बहुव्रीहि) तेषाम्। समास सूत्र– 'सुप्सुपा'। शास्त्रोQ विधि के अनुसार जिन्होंने अग्नि में हवन किया है। शास्त्रों के अनुसार पवित्र अग्नियां दो प्रकार की हैः– **श्रौत,** जिन्हें वैतान या त्रेता भी कहते हैं, और **स्मार्त** जिन्हें गृह्य या आवसथ्य भी कहते हैं। इनमें श्रोत अग्नि के तीन रूप हैं– गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिण। परन्तु स्मार्त अग्नि एक ही है। मनु कहते हैं–''**पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्मातािग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नि त्रेता गरीयसी।**'' जब अग्नि का बहुवचन में प्रयोग होता है तब उससे तीन श्रोत अग्नियों का ग्रहण होता है। रघुवंशी राजा परम आस्तिक थे और वे श्रौत अग्नियों का विधिवत् पूजन और हवन करते थे।

यथाकामार्चितार्थिनाम्– काममनतिक्रम्य इति यथाकामम् यथाकामम् अर्चिताः अर्थिनः यैः ते (बहुव्रीहि), तेषाम्। रघुकुल के राजा याचकों को उनकी इच्छानुसार दान देते थे। देखिये– ''**यद्यस्यास्ति समीप्सितं वदतु तत् कस्याद्य कि दीयताम्।**'' (स्वप्नवासवदत्तम्)।

यथापराधदण्डानां– अपराधमनतिक्रम्य इति यथापराधम्, यथापराधम् दण्डो येषां ते यथापराधदण्डाः (बहुव्रीहि), तेषाम्। अपराध के अनुसार अपराधी को दण्ड देने वाले। इसमें राजा के कर्तव्य का उल्लेख है कि उसे वेदों तथा धर्मशास्त्र में प्रतिपादित नियमों और कानूनों को प्रजा में पूरी तरह लागू करना चाहिये। शास्त्रोQ विधि से प्रजा का पालन करते हुए उसे अपराधी को दण्ड देना चाहिये। शास्त्र राजा को दण्ड देने का अधि कार देता है तथा इसी कारण से उसे दण्डधर भी कहते हैं। परन्तु दण्ड के प्रयोग में राजा को सदा सतर्क रहना चाहिये। राजा की जागरुकता और सफलता इस बात में है कि उसके राज्य में कोई भी अपराधी दण्ड

से बच न पाए, और अपराधी को अपने अपराध के अनुसार ही दण्ड मिले। रघुवंशी राजा सफल शासक थे क्योंकि उनके राज्य में अपराधी दण्ड से बच नहीं पाता था और उसे सदा अपराध के अनुसार दण्ड मिलता था।

यथाकालप्रबोधिनाम्– कालमनतिक्रम्य इति यथाकालम्, यथाकालं प्रबोधिनाम् इति यथाकालप्रबोधिनाम्– यथा समय जागते थे। शास्त्रानुसार जागरण का समय ब्राह्ममुहूर्त है। देखिये–

''उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौच: समाहित:।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्।।''

तथा– ''ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्माथौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च।।''

विशेष– प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त चार विशेषण सूर्यवंशी राजाओं की चरित्र की चार विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं– वे अग्नि में आहूति डालकर देवताओं को संतुष्ट करते हैं (और वे देवभक्त थे) वे अतिथि पूजा कर मनुष्यों को प्रसन्न करते थे। वे न्याय कर प्रजा में आन्तरिक शान्ति स्थिर रखते थे और वे सदा ब्राह्ममूहुर्त में ही जागते थे।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् H 7H

अन्वय:– श्लोकानुसार ही।

अनुवाद– त्याग (दान) के लिए ही धन का संग्रह करने वाले, सत्य के लिए कम बोलने वाले (कहीं मुख से असत्य न निकल पड़े, इसलिए) अपने यश के लिए (न कि दूसरे राज्य को छीनने के लिए) विजय प्राप्त करने की इच्छा करने वाले, संतानोत्पत्ति मात्र के लिए (न कि कामोपभोग के लिए) गृहस्थ बनने वाले (विवाह करने वाले) रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा।

टिप्पणियाँ:–

त्यागाय– वे दूसरों को देने के लिए ही धन का संग्रह करते थे। कुछ ही लोगों की जेब में सारा धन एकत्रित न हो इस उद्देश्य से प्राचीन भारत में समाज कल्याण के चिन्तकों ने दान की महिमा का बढ़-चढ़ कर वर्णन किया है। दान से धन की शोभा मानी गई है। दान से स्वर्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार दान देते रहने से धन एक स्थान पर एकत्रित नहीं होता और निर्धनों को धन मिलने से समाज में शान्ति बनी रहती है। संन्यासाश्रम में प्रवेश करते समय व्यक्ति के लिऐ 'सर्ववेदस्' यज्ञ करना आवश्यक था जिसमें उसे अपना सारा सर्वस्व (सम्पत्ति) 'सर्वस्वदान' के रूप में दूसरों को देना पड़ता था। त्याग भावना के लिए देखें **''मा गृध: कस्य स्विद्धनम्''** (ईशावास्योपनिषद्)। सूर्यवंशी राजा भी इस परम्परा का पालन करते थे। वे धन का स्वयं भोग न कर दूसरों को दान में देकर प्रसन्न होते थे। मल्लिनाथ के अनुसार यहां ''चतुर्थी तदर्थार्ध बलिहितसुखरक्षितै:'' सूत्र से चतुर्थी का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।

सम्भृतार्थानां– सम्भृत: (सम उपसर्ग+धातु भृ+Q) अर्थ: यैस्ते: सम्भृतार्था: (बहुव्रीहि), तेषाम्। जिन्होंने धन एकत्रित किया है (त्यागाय)।

यशसे विजिगीषूणाम्–विजेतुम् इच्छूनाम्। वि उपसर्ग+जि धातु+सन्+उ, षष्ठी बहुवचन। वे यशप्राप्ति के लिए विजय की कामना करते थे, दूसरों का राज्य हड़पने के लिए नहीं। प्राचीन भारत में युद्ध सदा विरोधी राजाओं के राज्य को हड़पने के लिए नहीं किये जाते थे। परन्तु कई बार युद्ध करने वाले का उद्देश्य

विरोधी राजाओं पर अपने शौर्य पराक्रम का प्रभुत्व जमाकर अपना यश और नाम फैलाना ही होता था। सूर्यवंशी राजा भी यश के लिए युद्ध करते थे। **देखिये– ''जीतो मनहि सुनीय अस रामचन्द्र के राज''** (तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस')

प्रजायै गृहमेधिनाम्– गृह + मेध्+णिनि। गृह का अर्थ है पत्नी- **''दारेष्वपि गृहा''** (अमरकोश) तथा ''जाया च गृहिणी गृहम्'' (हलायुध)। गृहमेधिन् का अर्थ है– गृहस्थी, विवाह करके गृहस्थाश्रम में निवास करने वाला। मल्लिनाथ ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है- **गृहैः दारैः (पत्नियों से) मेधन्ते (मिलते है) इति गृहमेधिनः, तेषाम्।**

विशेषः– ऐसा माना जाता है कि जन्म से लेकर ही प्रत्येक हिंदू को तीन ऋण चुकाने होते हैं– (1) देवऋण (देवताओं का ऋण), (2) पितृऋण (पितरौ का ऋण) और (3) ऋषिऋण (ऋषियों का ऋण)। अग्नि में विभिन्न देवताओं के नाम से आहुति डालकर देवताओं का ऋण चुकता किया जाता है, पितरों को जल अर्पण करके तथा अनुकूल पत्नी से पुत्र को उत्पन्न करके पितरों का ऋण उतारा जाता है। प्रतिदिन स्वाध्याय (वेदों या शास्त्रों का अध्ययन) करने से ऋषियों का ऋण पूरा होता है।

इन विशेषणों से रघुवंशियों का परोपकारित्व, सत्यवचनत्व, यशःपरत्व, पूर्वजों की शुद्धता दर्शाना अपेक्षित है। (मल्लिनाथ)

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् H 8H

अन्वयः– शैशवे अभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् वार्द्धके मुनिवृत्तिनाम्। अन्ते योगेन तनुत्यजाम् (रघूणां अन्वयं वक्ष्ये)।

अनुवादः– बाल्यकाल में (विविध) विद्याओं को अभ्यास करने वाले, यौवन काल में विषयभोगों की इच्छा करने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों का-सा जीवन बिताने वाले तथा अन्त में योग (समाधि) द्वारा शरीर का त्याग करने वाले-रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा।

टिप्पणियांः–

शैशवे– प्रस्तुत श्लोक में जीवन की चार दशाओं अर्थात् चार आश्रमों का निर्देश किया गया है। सूर्यवंशी राजा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास का शास्त्रोQ रीति से पालन करते थे। हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार इन चार आश्रमों का पालन पुरुष का सबसे बड़ा परमार्थ माना जाता है। जीवन की प्रथम अवस्था ब्रह्मचर्य आश्रम है जो विद्यार्थी जीवन की दशा है, जिसमें विद्या का अध्ययन कर जीवन की आगामी आश्रमों के लिए तैयार किया जाता है। इस आश्रम में बालक प्रायः अपने गुरु के पास रहता है, घर में नहीं। जीवन की द्वितीया अवस्था है गृहस्थाश्रम अर्थात् वैवाहिक जीवन की दशा। विद्या समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी अनुकूल कन्या से विवाह कर लौकिक दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करता है। इस आश्रम में वह धर्म का उल्लंघन न करते हुए 'अर्थ' और 'काम' को प्रमुख रूप से उपार्जित करता है। जीवन की तीसरी दशा वानप्रस्थ आश्रम है, जिसमें पुरुष वनवासी ऋषि का जीवन व्यतीत करता है। यह आश्रम वह भूमि है जिसके आधार पर साध क अपने को अंतिम और पूर्ण त्याग के लिए तैयार करता है। इस आश्रम में धीरे धीरे अर्थ और काम से विरQ होता हुआ पूर्ण रूप से धर्म का ही अनुष्ठान करता है। जीवन की अन्तिम दशा 'संन्यासाश्रम' है। इस आश्रम में पुरुष परिवार व समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से पूरी तरह मुQ हो जाता है। अब उसका एकमात्र उद्देश्य 'मोक्ष' (अर्थात् संसार के बन्धन या जन्म मरण के चक्र से छूट जाना) रह जाता है। आश्रम व्यवस्था हिंदुओं की आदर्श जीवन पद्धति है। सूर्यवंशीय राजाओं ने इसका अनुसरण किया है। इससे उन राजाओं की वर्णाश्रम धर्म के पालन में आस्था प्रकट होती है।

शैशवे– शिशोर्भावः । शिशु+अञ् सप्तमी एक वचन। बालकपन से अर्थात् ब्रह्मचर्य अवस्था में।

अभ्यस्तविद्यानाम्– अभ्यस्ता विद्या यैस्तै अभ्यस्तविद्याः तेषाम्। निम्नलिखित सब विद्याएं राजाओं के लिए आवश्यक हैं– आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति (चाणक्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र)।

यौवनम्– यूनो भावः। युवन्+अण्। युवावस्था अर्थात् गृहस्थाश्रम में।

विषयैषिणाम्– विषयान् एषितुं शीलमेषां विषयैषिणाः तेषां विषयैषिणाम् (उपपद तत्पुरुष)।

वार्द्धके– बृद्धस्य भावः वार्द्धकम्। वृद्ध वुञ्+वृद्धावस्था।

मुनीवृत्तिनां- मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तियेषां ते मुनिवृत्तयः, तेषाम्। मुनिभाव अर्थात् संन्यास।

तनुत्याजाम्- तनुं देहं त्यजन्ति इति तनुत्यजः, तेषाम्। उपपद तत्पुरुष। तनु+त्यज्+क्विप्, षष्ठी बहुवचन

योगेन- योग, ईश्वर ध्यान के माध्यम से।

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः H 9H

अन्वयः- तनुवाग्विभवोऽपि सन् तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः (अहम्) रघुणाम् अन्वयं वक्ष्ये।

अनुवादः- यद्यपि मेरी वाणी का वैभव (वर्णनशक्ति) कम है तथापि (पूर्वोQ गुणों से युQ) रघुवंशी राजाओं का वर्णन करुँगा जिनके गुणों ने मेरे कान में आकर इस चपल कार्य (रघुवंश काव्य-रचना) को करने के लिए प्रेरित किया है।

टिप्पणियाँः–

वाग्विभवः- वाचां विभवः वाग्विभवः (षष्ठी तत्पुरुष), तनुवाग्विभवः यस्य सः (बहुव्रीहि) तुनवाग्विभवः। यद्यपि मेरी वाणी का (रघुकुल के वर्णन का) वैभव (सामर्थ्य) थोड़ा है, अर्थात् सूर्यकुल का वर्णन करने का सामर्थ्य कम होने पर भी। शब्दार्थ-ज्ञान-सामर्थ्य अल्प होने पर भी।

अन्वयम्- कुल को, वंश को।

कर्णमागत्य-मेरे कानों में आकर, कानों में पड़ने पर। भाव यह है कि रघुवंशियों के गुणों को अनवरत सुनते रहने के कारण ही महाकवि कालिदास उनके वंश के वर्णन की ओर आकृष्ट हुए हैं।

चापलाय- चपल+अण्। यहां **''क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः''** सूत्र से चतुर्थी का प्रयोग हुआ हैः अर्थ है चंचल, उपहसनीय काम के लिए। भाव यह है जब मैं एक ओर सूर्यवंश की महत्ता को तथा दूसरी ओर अपनी वाणी की दुर्बलता को देखता हूँ तो मुझे दोनों में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। यह जानते हुए भी मैं रघुकाव्य की रचना में इसलिए उत्सुक हूँ कि सूर्यवंशी प्रतापी राजाओं के गुण सुन लेने के बाद (मैं उनसे उतना प्रभावित हो गया हूं कि) अब मुझसे उनकी प्रशंसा में कुछ कहे बिना नहीं रहा जा सकता। उनके गुणों के आख्यान में मेरे मुख से निकले उeार भले ही तुच्छ क्यों न हो और लोग इसे मूर्खता का काम कहकर इस पर भले ही हंसे, परन्तु मैं कुछ कहे बिना चुप नहीं रह सकता।

विशेष- इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि महाकवि कालिदास ने इन श्लोकों में एक आदर्श राजा का रूप हमारे सामने उपस्थित किया है। यही आदर्श आने वाले 13-30 के श्लोकों में और अधि क स्पष्ट हुआ है।

प्रचोदितः- प्र उपसर्ग+धातु चुद्+णिच्+Q । उद्यत कर दिया गया। मचल उठा।

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥ 10॥

अन्वयः- तं सदसद्व्यक्तिहेतवः सन्तः श्रीतुमर्हन्ति हि हेम्नः विशुद्धि श्यामिका अपि वा अग्नौ संलक्ष्यते।

अनुवादः- (मेरे द्वारा लिखा जाने वाले) इस रघुवंश महाकाव्य को भले बुरा की पहचान कर सकने वाले सज्जन ही सुन सकते है क्योंकि सोने की शुद्धता अथवा मलीनता (खरा अथवा खटा होना) की परीक्षा उसे अग्नि में (डालने) से हो ही सकती है।

टिप्पणियांः-

सद्सद्- सत् च असत् च सदसती (द्वन्द), सदसतोः व्यक्ति इति सदसद्व्यक्तिः (षष्ठी तत्पुरुष), सदसद् व्यक्तेः हेतवः इति सदसद्व्यक्तिहेतवः। सज्जन और विद्वान व्यक्ति ही अच्छे और बुरे, शुद्ध और अशुद्ध में भेद करने में समर्थ हैं। ऐसे पारखी ही मेरे काव्य की परीक्षा कर सकते हैं। देखिये- **''आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्''** (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)।

हेम्नः- हेमन्, षष्टी एक वचन।

श्यामिका- खोट, मिलावट। सोने में पीतल या लोहा जैसी हल्की और सस्ती धातु का मिश्रण। भाव यह है कि जैसे सोने के पारखी जौहरी ही खरे और खोटे सोने में भेदकर उसकी परीक्षा करने में समर्थ होते हैं वैसे ही महाकाव्य के गुण दोष की परख करने वाले विद्वान् ही मेरे महाकाव्य रघुवंश के गुण-दोष की परीक्षा कर इसकी प्रशंसा या निन्दा कर सकते हैं। वे ही इसके सुनने के अधिकारी है।

संलक्ष्यते- सम् उपसर्ग+धातु लक्ष्+कर्मणि लट्। जांची जाती है, परीक्षा की जाती है।

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ 11॥

अन्वयः- छन्दसां प्रभव इव मनीषिणाम् माननीयः महीक्षिताम् आद्यः वैवस्वतो नाम मनुः आसीत्।

अनुवाद- वेदों के ओंकार के समान विद्वानों में पूजनीय, राजाओं में सर्वप्रथम, (सूर्यपुत्र) वैवस्वत् नामक मनु हुए।

टिप्पणियांः–

मनीषिणाम्- मनसः ईषिणः मनीषिणः, तेषाम्। मल्लिनाथ के अनुसार यह पृषोदरादिगण का समास है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार यह शकन्ध्वादिगण का समास है।

वैवस्वतः- विवस्वतः (सूर्यस्य) अपत्यं पुमान् इति। विवस्वत्+अण्। विवस्वान् सूर्य का पुत्र

महीक्षिताम्- पृथ्वी पर शासन करने वाले राजाओं का। मही+क्षि+क्विप् तथा तुगागम।

छन्दसाम्- वेदों का।

प्रणवः- वैदिक ऋचाओं के प्रारम्भ में ओंकार अक्षर। मनु कहते हैं- ''ब्रह्मचारी को वेदपाठ करते हुए प्रत्येक ऋचा के आरम्भ तथा अन्त में 'ओम्' इस अक्षर का अवश्य उच्चारण करना चाहिये।'' क्योंकि ऐसी मान्यता है कि ऋचा के आरम्भ में 'ओम्' का उच्चारण न किया जाये तो छात्र अपनी सभी विद्या को भूल जाता है। यदि वह उसका अन्त में उच्चारण न करे तो उसका विनाश हो जाता है। ओम् शब्द 'त्रिमूर्ति' का प्रतिनिधि है। अ, उ, म् क्रमशः विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा के प्रतिनिधि हैं–

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवस्तु त्रयो मताः।।

जैसे ऋचाओं के आरम्भ में 'ओं' आता है वैसे ही वैवस्वत मनु सूर्यकुल के आदि पुरुष थे।[1] ये राजाओं में प्रथम थे। **आद्यः**- आदौ भव आद्यः, आदि+यत्, प्रथम।

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव H 12H

अन्वयः- शुद्धिमति तदन्वये शुद्धिमत्तरः दिलीप इति राजेन्दुः क्षीरनिधौ इन्दुः इव प्रसूतः।

अनुवादः- जिस प्रकार क्षीर सागर से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ उसी प्रकार उन्हीं (सूर्यपुत्र मनु) के निर्मल वंश में उनसे भी अधिक कान्तिमान्, राजाओं में चन्द्रमा (श्रेष्ठ) दिलीप नामक राजा हुए।

टिप्पणियाँ :–

शुद्धिमति- शुद्धि+मतुप् (शुद्धि वाले में), सप्तमी विभि एकवचन। इस शुद्ध वंश में।

शुद्धिमत्तरः-शुद्धिमत्+तरप्। विशेषण के साथ तरप् तथा ईयसुन् का प्रयोग होता है यदि विशेष्य अभिधा अथवा व्यञ्जना से वर्णित हो। यहां शुद्धिमत् विशेषण चन्द्रमा के साथ प्रयु हुआ है। दिलीप अपने वंश से अधिक पवित्र है और चन्द्रमा क्षीरनिधि से उत्पन्न सभी रत्नों से अधिक पवित्र है।

राजेन्दुः–इन्दु शब्द का प्रचलित अर्थ चन्द्रमा है, परन्तु यहां ''श्रेष्ठ'' अथवा 'उत्तम' में प्रयु हुआ है दिलीप अति प्रसिद्ध श्रेष्ठ राजा हुए। देखिये- **'सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचकाः'** (अमरकोश)। ये शब्द ''श्रेष्ठ शब्द के अर्थवाचक हैं।''

क्षीरनिधौ इव- जैसे दूध के समुद्र में चन्द्रमा उत्पन्न होता है वैसे ही नृपों में श्रेष्ठ महाराज दिलीप सूर्यकुल (रघुवंश) से उत्पन्न हुए।

इन्दुरिव- पौराणिक परम्परा के अनुसार देवों और असुरों द्वारा समुद्र मन्थन किये जाने पर जिन चौदह रत्नों की उत्पत्ति हुई उनमें से चन्द्रमा भी है। यहां उपमा अलंकार है। मनुकुल और क्षीरसागर में साधारण ध र्म है अतिशुद्वता और चन्द्रमा तथा दिलीप में आह्लादकत्व।

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः H 13H

अन्वयः- व्यूढोरस्कः वृषस्कन्धः शालप्रांशुः महाभुजः आत्मकर्मक्षमं देहं आश्रितः क्षात्रः धर्म इव (स्थितः)।

अनुवादः- चौड़ी छाती वाले, बैल के समान उठे हुए कन्धों वाले, शालवृक्ष के समान (कद में) ऊंचे तथा लम्बी भुजाओं वाले दिलीप ऐसे लगते थे मानों स्वयं क्षत्रिय धर्म ने अपने कर्त्तव्य के अनुरूप शरीर ध ारण कर लिया हो।

टिप्पणियाँः–

विशेष– 13 से 15 श्लोकों तक महाराज दिलीप के व्यित्व का वर्णन है।

---

[1] पौराणिक परम्परा के अनुसार एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। यहाँ वर्णित वैवस्वत मनु सातवें मनु हैं जिन्हें सत्यव्रत भी कहा गया है। वर्तमान मानव जाति के जनक यही मनु कहे जाते हैं। ये अयोध्या के संस्थापक तथा प्रथम राजा भी माने जाते हैं।

व्यूढोरस्क:– व्यूढं उरः यस्य सः व्यूढोरस्कः (बहुव्रीहि)। व्यूढ=वि उपसर्ग+वह+धातु ''उरः प्रभृतिभ्यः कप्'' से व्यूढोरस्कः में कप् का आगम। विशाल छाती वाला।

वृषस्कन्धः– वृषस्य स्कन्ध इव यस्यः सः (बहुव्रीहि)। वृष के समान दृढ़ तथा उभरे हुए उन्नत कन्धों वाला।

शालप्रांशुः– शाल इव प्रांशु (उपमितकर्मधारय)। शाल नामक वृक्ष के समान प्रांशु-लम्बा।

आत्मकर्म- दुर्बल एवं पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करना क्षात्र धर्म है। देखिये **''क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः''** (रघुवंश)। परन्तु क्षात्र धर्म का पालन वही कर सकता है जो बलिष्ठ हो और लम्बे चौड़े परिपुष्ट शरीर को धारण करता हो जैसे दिलीप थे। अतएव कवि कल्पना करता है दिलीप के चौड़े वक्षस्थल, चौड़े उन्नत स्कन्ध और लम्बे शरीर को देखकर प्रतीत होता था मानो दुर्बलों और पीड़ितों की रक्षा करने के लिए क्षात्र धर्म ही साक्षात् दिलीप के शरीर में अवतरित हो गया हो। इसी प्रकार भगवान राम को मूर्तिमान धर्म माना गया है– **''रामो विग्रहवान् धर्मः।''**

महाभुजौ- महान्तौ भुजौ यस्य सः (बहुव्रीहि)। विशाल (महान्) बाहों वाला।

क्षात्रः- क्षत्रस्य अयमिति क्षात्रः। क्षत्र+अण्।

सर्वातिरिसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना H 14H

अन्वयः- सर्वातिरिQासरेण सर्वतेजोऽभिभाविना सर्वोन्नतेन आत्मना मेरुरिव उर्वी क्रान्त्वा स्थितः।

अनुवादः- सबसे अधिक बलशाली, तथा अपने तेज से सबको अभिभूत (तिरस्कृत) कर देने वाले (राजा दिलीप) सबसे ऊंचे अपने शरीर से पृथ्वी को इस प्रकार आक्रांत (अधिकृत) कर लिया था जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अपने दृढ़, तेजस्वी तथा उन्नत आकार से सारी पृथ्वी को व्याप्त करके स्थिर रहता है।

टिप्पणियाँः-

प्रस्तुत श्लोक में आत्मा (शरीर) की विशेषता बताने वाले तृतीया विभQ एक वचनान्त पद हैं।

सर्वातिरिQसारेण- सर्वेभ्य अतिरिQः सारः यस्यः सः (बहव्रीहि) तेन; राजा दिलीप ऐसे शरीर को ध ारण किये हुए थे जो सब प्राणियों से अधिक बलवान् था।

सर्वतेजोऽभिभाविना- सर्वं च तत्तेजः इति सर्वतेजः (कर्मधारय), सर्वतेजः अभिभूतवान् इति अथवा सर्वाणि भूतानि तेजसा अभिभवति इति सर्वतेजोऽभिभावी, तेन सर्वतेजोऽभिभाविना', ऐसा शरीर जो तेज में सबसे अधि क बढ़ा चढा था अर्थात् सबसे अधिक तेजस्वी था।

क्रान्त्वा-धातु क्रम्+Qवा।

मेरु- मेरु पर्वत भी अपनी शQ, तेज और आकार से पृथ्वी को व्याप्त करके स्थिर है। सुमेरु पर्वत सुवर्ण का आगार है अतएव अत्यधिक प्रभावान् है। सुमेरु का सार (धातु आदि) अन्य पर्वतों के सार से बढ़ा चढ़ा है। सुमेरु के समान अन्य कोई पर्वत ऊंचा नहीं है। राजा दिलीप की सुमेरु पर्वत से उपयुQ ही तुलना की गई है।

आकारसदृशः प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः H 15H

अन्वयः– आकारसदृशः प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः, आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः (स आसीत्)

अनुवादः– जैसा उनका आकार (विशाल शरीर) था वैसी ही उनकी बुद्धि (कुशाग्र) थी, जैसी उनकी (तीक्ष्ण) बुद्धि थी वैसा ही उन्हें शास्त्रों का (गहन) ज्ञान था, जैसा (गम्भीर) उनका शास्त्रज्ञान था वैसे ही (महान्) उनका उद्यम था और जैसे उनके (महान्) उद्यम (कर्म) थे वैसे ही उन्हें सफलता मिलती थी।

टिप्पणियाँः–

आकारसदृशः प्रज्ञः– शरीर में ब्रह्मा रूप, बाह्य आकृति। उन्नत शरीरानुकूल दिव्य बुद्धि (ज्ञान)।

सदृशः– अनुरुप। जैसा आकार था उसके अनुरूप ही उसकी बुद्धि थी। आकारेण सदृशी प्रज्ञा यस्य सः (बहुव्रीहि)।

आगमः–आ उपसर्ग+धातु + गम्+अप्; वेद एवं तदनुकूल शास्त्रों का अध्ययन, ज्ञान, विद्या।

आरम्भः–आ उपसर्ग + धातु रभ्+घञ्; प्रयत्न, उद्योग, कर्म। उसके ज्ञान (आगम) के समान ही उसकी योजनाएं तथा कार्य महान् थे। प्राप्त शास्त्रीय विद्याओं के अनुरुप ही उनका आरम्भ था।

उदयः–उत् उपसर्ग+धातु इ+अय्; सफलता, सिद्धि। उसकी योजनाओं के अनुसार ही उसकी सिद्धि थी।

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृश्यश्चाभिगम्यश्च यादौरत्नैरिवार्णवः H 16H

अन्वयः– भीमकान्तैः नृपगुणैः स उपजीविनां यादोरत्नैः अर्णव इव अधृश्यः च अभिगम्यः च बभूव।

अनुवादः– जिस प्रकार समुद्र मगरमच्छ आदि भयंकर जल जन्तुओं के कारण दूर ही रहने योग्य तथा रत्नों के कारण आश्रयणीय (समीप जाने योग्य) होता है उस प्रकार तेज प्रताप आदि भयंकर तथा दया दाक्षिण्यादि मनोहर राजकीय गुणों के कारण वे (राजा दिलीप) भी (लोगों के लिए) भयावह और आकर्षक दोनों थे।

टिप्पणियांः–

विशेष– राजा में ऐसी विशेषता होनी चाहिये कि लोग उसका भय भी मानें तथा उससे प्रेम भी करें। यदि राजा से भय न हो तो लोग राज्य की मर्यादाओं का पालन नहीं करेंगे और यदि राजा से प्रेम न तो तो लोग उदासीन रहेंगे और हृदय से उसे नहीं चाहेंगे। दिलीप में दोनों ही गुण थे। उसके शौर्य, पराक्रम आदि गुणों के कारण शत्रु उसके पास जाते डरते थे और उसके दया, दाक्षिण्य क्षमा आदि गुणों के कारण मित्र तथा याचक उसका आश्रय लेते थे और उससे अनुराग करते थे। राजा के लिए भीम एवं कान्त उभयगुणात्मक होना परमावश्यक है।

भीमकान्तैः– भयानक भी आकर्षण भी। दिलीप में दोनों ही गुण थे। दोनों प्रकार के गुणों की विद्यमानता प्रजाजन के धर्मपालन में सन्तुलन लाती थी।

अधृष्यः– न धृष्यः (धातु धृष्+यत्); वह जिसे तिरस्कृत न किया जा सके। दिलीप का भय माना जाता था।

अधिगम्यः– अभि उपसर्ग+धातु गम्+यत्, जिसके पास पहुंचा जा सके, जो दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। प्रजाजन का वह प्रेम एवं समादार का पात्र भी था।

यादो–यादांसि च रत्नानि च इति यादोरत्नानि (द्वन्द) तैः, भयानक जल-जन्तु मगरमच्छ (''यादांसि जलजन्तवः'' अमरकोश)। रत्नैः- मणि-मौ़ि कादि।

जिस तरह लोग भयंकर जल जीवों के कारण समुद्र से दूर रहते हैं और उसके पास जाने से डरते हैं परन्तु सुन्दर रत्नों के कारण उसके पास आते हैं और उसमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही राजा दिलीप के शौर्य पराक्रम आदि गुणों से लोग उससे भयभीत रहते थे परन्तु उसके दया दाक्षिण्य आदि गुणों के कारण उसके समीप आते थे और उससे प्रेम करते थे।

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः H 17H

अन्वयः- नियन्तुः तस्य नेमिवृत्तयः प्रजा आमनोः क्षुण्णात् वर्त्मनः परं रेखामात्रमपि न व्यतीयुः।

अनुवादः- जिस प्रकार कुशल सारथि द्वारा चलाये गये रथ के पहिये बने हुए मार्ग से तनिक भी बाहर नहीं जाते, उसी प्रकार योग्य शासक दिलीप द्वारा शासित प्रजा भी मनु से आरम्भ हुए आचार मार्ग से तिलमात्र भी विचलित नहीं होती थी।

टिप्पणियांः

नियन्तुः- शासक दिलीप की या रथचालक का। नि+यम्+तृच् षष्ठी एक वचन।

नेमिवृत्तयः प्रजा- दिलीप की प्रजा जिसकी व्यवहार रथ के चक्र (पहिये) के समान था। भाव यह है कि जिस प्रकार कुशल सारथि से चलाये गये रथ के पिछले पहिये अगले पहिये के बने हुए मार्ग से रेखा मात्र (थोड़ा भी) बाहर नहीं जाते, उसी प्रकार कुशल शासक दिलीप की प्रजा भी भगवान मनु द्वारा 'मनुस्मृति' नामक आचार संहिता में व्यवस्थापित आचार पद्धति से तिल मात्र भी विचलित नहीं होती थी। सारी प्रजा नियमों का पालन करती थी।

आमनोः- मनुम् आरभ्य, मनु के समय से लेकर।

न व्यतीयुः- वि उपसर्ग+अति उपसर्ग+धातु इ+लिट्, अन्य पुरुष बहुवचन। उल्लंघन नहीं करती थी। स्वधर्म पालन में सदा (प्रजा) तत्पर रहती थी।

क्षुण्णाद् वर्त्मनः परम्- व्यवस्थापित या बने हुए मार्ग से बाहर। रथ के पक्ष में- बने हुए रास्ते से; राजा दिलीप के पक्ष में - मनु के समय से अभ्यस्त धर्म मार्ग से।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः H 18H

अन्वयः- स प्रजानां भूत्यर्थमेव ताभ्य बलिम् अग्रहीत्, हि रविः सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुं रसम् आदत्ते।

अनुवादः- जिस प्रकार सूर्य हजार गुना बढ़कर (वापस) देने के लिए ही (पृथ्वी से) रस (जल) खींचता है, उसी प्रकार राजा दिलीप भी प्रजा के कल्याण के लिए ही उससे कर लेते थे।

टिप्पणियांः-

बलिम्- कर, शुल्क, टेक्स। हिंदुओं के अर्थशास्त्र के अनुसार उपज का छठा भाग राजा का भाग माना गया है जिसे हजार गुना करके वह अपने सुख और आराम पर व्यय न कर प्रजा के कल्याण के कार्यों (कुएं खुदवाना, अस्पताल खोलना आदि) पर व्यय करता है।

उत्स्रष्टुम्- उत् उपसर्ग+धातु सृज्+तुमुन्, वापस दे देने के लिए लौटा देने के लिए।

सहस्रगुणम्–हजार गुना। जिस प्रकार सूर्य भगवान जिस जल को पृथ्वी आदि से सुखाकर ले लेते हैं, उसी को सहस्त्रगुणम् कर पुनः वर्षा के रूप में लौटा देते हैं, ठीक उसी प्रकार महाराजा दिलीप भी प्रजा द्वारा दिये गये कर को हजार गुना कर प्रजा के कल्याण के लिए लगा देते थे। **''त्यागाय सम्भृतार्थानाम्।''** (रघुवंशम्)

रसम्-जल

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता H 19H

अन्वयः- तस्य सेना परिच्छ (आसीत्)। शास्त्रेषु अकुण्ठिता बुद्धिः धनुषि आतता मौर्वी च, द्वयमेव अर्थसाधनम् (अभूत्)

अनुवादः- राजा दिलीप की सेना तो केवल उनकी शोभा के लिए ही थी, क्योंकि उनके प्रयोजन (की पूर्ति) के साधन दी ही थे– शास्त्रों में अकुंठित (तीक्ष्ण) बुद्धि तथा धनुष पर चढ़ी डोरी।

टिप्पणियांः–

सेना पच्छिदः- राजा दिलीप की सेना रक्षा के कार्य के लिए न होकर चामर के समान केवल उनकी शोभा और वैभव बढ़ाने के लिए थी क्योंकि वे इतने दूरदर्शी और बलिष्ठ थे कि अकेले ही सब कार्य कर सकते थे। सेना तो वे रक्षा आदि किसी प्रयोजन के लिए नहीं अपितु शोभा के उद्देश्य के लिए रखते थे। सेना के दो ही मुख्य कार्य हैं- बाह्य आक्रमण से रक्षा तथा आन्तरिक अव्यवस्था को रोकना। महाराजा दिलीप का इतना प्रभाव था कि अन्य राजा उनके राज्य पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं करते थे। साथ ही वे इतने नीतिकुशल तथा प्रजापालक थे कि प्रजा में अशान्ति की कोई सम्भावना ही नहीं थी। अतः इन दोनों में से कोई भी कार्य न होने से उनकी सेना केवल अलङ्करण मात्र ही थी।

द्वयम्- राजा के सभी कार्य केवल दो चीजों–उनकी सूक्ष्मदर्शी बुद्धि और उनकी धनुष पर चढ़ी डोरी–से ही सिद्ध हो जाते थे। उन्हें सेना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। भाव यह है कि चक्रवर्ती दिलीप में नीति और शक्ति दोनों का समन्वय था। नीति के बिना अकेली उनकी शक्ति प्रवृत्त नहीं होती थी। अतएव उन्हें सदा सफलता प्राप्त थी। कहा भी है ''कातर्यं केवला नीतिः, शौर्यं श्वापदचेष्टितम्''- रघुवंश, 17, 47।

अकुण्ठिता– वह बुद्धि जो मन्द नहीं होती थी अर्थात् जो सूक्ष्मदर्शी थी।

आतता- आ उपसर्ग + धातु तन् + Q +टाप्। (धनुष पर) चढ़ी हुई।

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेXतस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राQना इव H 20H

अन्वयः- संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेXतस्य च तस्य प्रारम्भाः प्राQनाः संस्काराः इव फलानुमेयाः (बभूवुः)।

अनुवादः- सब प्रकार के मंत्रों (विचारणाओं) को गुप्त (संवृत) रखने वाले तथा (भंवे तरेरना, मुख लालिमा आदि क्रोध, हर्ष आदि के सूचक) बाह्य शारीरिक चिन्हों तथा हृदयगत आंतरिक भावों को भी छिपा लेने वाला राजा दिलीप के (समस्त राजनीतिक सामादि) उपाय पूर्वजन्म के संस्कारों के समान फल (परिणाम) से ही जाने जाते थे। (जैसे फलों को ही देखकर मनुष्य के पूर्वजन्म के संस्कारों का अनुमान लगाया जाता है कि पहले अच्छे व बुरे कार्य किये होंगे वैसे ही जब दिलीप के साम-दाम-दंड-भेद आदि उपाय सफल हो जाते थे तभी लोगों को ज्ञात होता था कि राजा ने इन उपायों को पहले आरम्भ किया होगा।)

टिप्पणियाँ:–

सफलता के लिए राज-मंत्र या राजनीति का नितान्त गुप्त रहना अत्यन्त आवश्यक है। राजा को इतना कुशल होना चाहिये कि उसकी मुखमुद्रा, आकार-प्रकार आदि देखकर भी लोग उसके मन के गुप्त के भाव को समझ न सकें। जो बात उसके मन में है वह सदा गुप्त ही रहनी चाहिये, किसी प्रकार भी प्रकट नहीं होनी चाहिये। केवल कार्य सिद्ध हो जाने पर ही वह प्रकट होनी चाहिये, उससे पूर्व नहीं। राजा दिलीप मंत्र-रक्षा में कुशल थे। अतएव कार्यसिद्ध हो जाने पर ही लोगों को उनकी नीतियों का भेद पता चलता था, उससे पूर्व नहीं। इसी प्रकार का विचार भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य में ही व्यQ हुआ है:–

''महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः, प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः।'' (किरातार्जुनीयम् 1.20)

संवृतमन्त्रस्य- संवृतः मन्त्रः येन सः संवृतमन्त्र (बहुव्रीहि)। जिसकी नीतियां या मन्त्रणाएं सदा गुप्त रहती थीं **गूढ़ाकारेXिगतस्य**- 'आकारश्च इXितश्च आकारेXिते (द्वन्द) गूढ़े आकारेXिते यस्य सः (बहुव्रीहि) तस्य।' जिसके शोक आदि के सूचक मुख-विकार तथा चेष्टाओं और मन के भाव नहीं जाने जा सकते थे। गूढ़-गुप्त, आकार- शारीरिक मुख-विकार, बाह्य चेष्टाएं। इंगित–हृदय के भाव चेष्टाएं।

संस्काराः- हिन्दू पूर्वजन्म में विश्वास करते हैं। प्रत्येक वर्तमान जन्म पूर्व (पिछले) जन्म में किये कर्मों का फल है। वर्तमान जन्म में मनुष्य जो कुछ अच्छा या बुरा भोगता है वह सब उसके पूर्वजन्म के अच्छे या बुरे कर्मों का फल है। यदि उसने पूर्वजन्म के अच्छे कर्म किये हैं तो इस जन्म से उसे उसके अनुसार सुख मिलता है। यदि बुरे कर्म हैं तो तदनुसार उसे दुःख मिलता है। यद्यपि किसी को पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तथापि वर्तमान जन्म में भोगे जा रहे सुख-दुःख के परिणाम से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति ने पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किये होंगे या बुरे। इसी प्रकार महाराजा दिलीप की नीतियों का, जब तक वे गुप्त रहती थी, किसी को उनका कुछ भी ज्ञान नहीं होता था परन्तु उनकी सफलता को देखकर ही पता चलता था कि दिलीप ने अमुक समय में इस नीति को आरम्भ किया होगा।

फलानुमेयाः- 'प्रारम्भाः' का विशेषण। वे कर्म जिसका अनुमान उनके फल से ही लगता है इसके बिना नहीं। **प्रारम्भाः**- उपाय, उद्योग।

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसQ Ñ सुखमन्वभूत् H 21H

अन्वयः- स अत्रस्तः आत्मानं जुगोप, अनातुरः धर्म भेजे, अगृध्नुः अर्थम् आददे, असQः सुखम् अन्वभूत्।

अनुवादः- राजा दिलीप निर्भीक होकर अपनी रक्षा करते थे (किसी के भय से नहीं), अनातुर (नीरोग) होकर धर्म का पालन करते थे (किसी स्वार्थ से नही)। लोभरहित होकर धन का संग्रह करते थे (लोभ से नहीं), तथा आसQ को त्यागकर सांसारिक सुख का अनुभव करते थे (आसQ से नहीं)

टिप्पणियाँ :

अत्रस्तः- न त्रस्तः, अत्रस्तः (नञ् तत्पुरुष)। बिना डरे हुए।

जुगोप- धातु गुप्+लिट्, अन्य पुरुष एक वचन, (उसने) रक्षा की। महाराजा दिलीप अपने शरीर की भलीभांति रक्षा करता था यद्यपि उसे किसी से भय नहीं था। शास्त्रों के अनुसार राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखे, भले ही भय का कोई कारण न हो। अपनी सुरक्षा के लिए चक्रवर्ती दिलीप ने रक्षकादि भी नियुQ नहीं किये थे क्योंकि वह स्वयं अपनी शूरता से ही अपनी रक्षा करने

में समर्थ था। देखिये- **'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः'** मनु की सन्तान अपने वीर्य (बल) से ही रक्षित थी।

भेजे- धातु भञ्+लिट्, अन्य पुरुष, एक वचन, पालन किया।

अनातुरः- न आतुरः अनातुरः (नञ् तत्पुरुष)। किसी रोग से पीड़ित न होकर; स्वस्थ अवस्था में ही। प्रायः रोगग्रस्त हो जाने में अथवा विपत्ति के सिर पर आ पड़ने पर ही लोग ईश्वर को स्मरण करते हैं और धर्म का पालन करते हैं। परन्तु राजा दिलीप किसी स्वार्थ से नहीं अपितु अपना कर्तव्य समझकर यज्ञ आद धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करते थे। गीता में चार प्रकार के भQ कहे हैं, उनमें ही एक आतुर भी है **''चतुर्विद्या भजन्ते मां...आर्तो...''** (गीता 7/16) इति।। परन्तु धर्मपालन में तत्पर दिलीप अनातुर ही रहते थे।

असQः- न सQः, असQः (नञ् तत्पुरुष)।

अगृध्नुः- बिना लोभी हुए अर्थात् लोभ में आकर नहीं। अ+गृध्+क्नु। दिलीप ने धन का संग्रह लोभवश नहीं किया था, अपितु शास्त्र के विधानानुसार ('राजा को एक समुचित धनराशि का संचय करना चाहिये'') ही किया था। **''मा गृधः कस्य स्विद्धनम्''** (ईशावस्योपनिषद्)।

अन्वभूत्- अनु उपसर्ग+धातु भू+लृङ् प्रथम पुरुष, एकवचन, अनुभव किया, भोगा।

ज्ञाने मौनं क्षमा शQौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव H 22H

अन्वय- ज्ञाने (सत्यपि) मौनम्, शQौ (सत्यामपि) क्षमा त्यागे सत्यपि श्लाघाविपर्ययः, तस्य गुणा गुणानुबन्धित्वात् सप्रसवा इव (आसन्)

अनुवाद- ज्ञान में (दूसरों की बात जानकर) भी मौन रहना, शक्ति में (शत्रु से बदला लेने में सामर्थ्य) रहते हुए भी क्षमा करना तथा त्याग में (दान देकर) आत्मप्रशंसा न करना, इस प्रकार दिलीप के ज्ञान आदि गुण अपने विरोधी मौन आदि गुणों के साथ मेल से रहने के कारण (एक दूसरे के विरोधी नहीं प्रत्युत) सप्रसव (सगे भाई जैसे) जान पड़ते थे।

टिप्पणियाँ:

विशेष- परस्पर विरोधी गुण विरोध छोड़कर रघुकुल तिलक दिलीप में ऐसे निवास करते थे जैसे वे विरोधी नहीं अपितु परस्पर सहोदर हों। जैसे ज्ञान होने पर लोगों को मौन रहते नहीं देखा जाता। इस प्रकार ज्ञान और मौन विरोधी गुण है। शक्ति होने पर बहुत कम लोग क्षमा करते देखे जाते हैं। दान देने पर सब लोग आत्म-प्रशंसा चाहते हैं। परन्तु लोक में सामान्य रूप से विरोधी प्रतीत होने वाले यह गुण दिलीप में परस्पर मिलकर निवास करते थे क्योंकि वे किसी बात को जानते हुए भी उसे प्रकट नहीं करते थे प्रत्युत चुप रहते थे। प्रतिकार लेने की शक्ति होने पर भी विरोधी को क्षमा कर देते थे। त्याग करके भी अपनी प्रशंसा नहीं सुनना नहीं चाहते थे।

ज्ञाने मौनम्- (मुनि+अण्) मल्लिनाथ के अनुसार इसका अर्थ है- दूसरे के गुप्त रहस्यों को जानते हुए भी दिलीप उन्हें प्रकट नहीं करते थे। अपनी वाणी पर उनका पूर्ण नियंत्रण था।

शQौ क्षमा- शक्ति होने पर भी क्ष्मा कर देते थे। चाणक्य का कथन है- **शQानां भूषणं क्षमा।**

त्यागे श्लाघा-विपर्ययः- त्यागे श्लाघायाः विपर्ययः (षष्ठी तत्पुरुष) आत्मप्रशंसा का अभाव। दान करने पर भी मान नहीं करते थे। अहंकारशून्य थे। इस दिव्य निरभिमानिता का परिचय महाकवि कालिदास के पूर्व

के महाकवि भास के नाटक स्वप्नवासवदत्तम् की नारी पात्र पद्मावती के चरित्र में ही विद्यमान है। देखिए पद्मावती की घोषणा- **आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा।**

गुणानुबन्धित्वात्- गुणानाम् (मौन क्षमा श्लाघाविपर्ययादीनाम्) अनुबन्धनः, अविरोधेन अनुगन्तुं शीलं येषां ते गुणानुबन्धिनः, तेषां भाव गुणानुबन्धित्वम्, तस्मात्। एक गुण विरोधी होने पर भी दूसरे विरोधीगुण से जुड़ा होने या मिला रहने के कारण या एक गुण का दूसरे गुण से सौहार्द होने के कारण।

सप्रसवाः- सह प्रसव येषाम् से सप्रसवाः। सगे भाई, एक ही माता से जन्म लेने वाले। सहोदर।

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।

तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना H 23H

अन्वयः– विषयैः अनाकृष्टस्यं विद्यानां पारदृश्वनः धर्मरतेः तस्य जरसा विना वृद्धत्वम् आसीत्।

अनुवादः- सांसारिक विषय भोगों के प्रति आकृष्ट न होने वाले, (वेदाXादि) विद्याओं के पारंगत तथा धर्म में अनुराग रखने वाले राजा दिलीप उम्र के वृद्ध न होने पर भी (अर्थात् युवावस्था में ही) बिना वृद्धावस्था (बुढ़ापे) के ही (ज्ञान के कारण) वृद्ध थे।

टिप्पणियाँ :

अनाकृष्टस्य- न आकृष्टस्य (नञ्+आ+धातु कृष्+Q)। जो (दिलीप) विषयों से (विषयैः) अनाकृष्ट थे। इसका अर्थ है कि यद्यपि वह आयु में वृद्ध नहीं थे, फिर भी वैराग्य (अनासQ) में वृद्ध था।

पारदृश्वनः–पार–धातु दृश्–क्वनिप्। पार-दृष्टवान् इति पारदृश्वा तस्य (उपपद तत्पुरुष)। पार अर्थात् अन्त तक को देख लेने वाला, पारंगत, पूर्ण ज्ञाता। दूरदृष्टि वाले।

विद्यानाम्– विद्याओं का। विद्याएँ चार मानी गई हैं–

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः।।

विद्याएँ चौदह भी मानी गई हैं–

षडXमिश्रिताः वेदाः धर्मशास्त्रं पुराणकम्।
मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याः चतुर्दश।।

वेदांग छः हैं– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुQ, छन्द तथा ज्योतिष।

धर्मरतेः– धर्मे रतिः यस्य: सः धर्मरतिः (बहुव्रीहि), तस्य। वह जिसकी धर्म में निष्ठा है। दिलीप का विशेषण।

जरसा विना- वृद्धत्व के विना। दिलीप आयुवृद्ध नहीं अपितु वैराग्यवृद्ध, विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा धर्मवृद्ध थे।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाjरणादपि ।

स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः H 24H

अन्वयः- प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणाद् अपि स पिता (आसीत्); तासां पितरः केवलं जन्महेतवः (आसन्)।

अनुवादः- प्रजा को (सन्मार्ग प्रवर्तन रूप विनय (शिक्षा) प्रदान करने के कारण, (विपत्तियों से उनकी) रक्षा करने के कारण तथा (अन्न जल से उनका) भरण-पोषण करने के कारण राजा दिलीप ही वास्तव में

प्रजा के पिता थे उनके (प्रजा के) वास्तविक पिता तो केवल उनके जन्म ही देने वाले नाम के पिता थे। (प्रजा की शिक्षा-रक्षा का काम करने से दिलीप ही उनके वास्तविक पिता थे।

टिप्पणियाँ :

विशेष- अपनी सन्तान की रक्षा करना, उसका भरण-पोषण और उसे सुशिक्षित करना माता-पिता का कर्त्तव्य है। राजा दिलीप भी सन्तान की भांति प्रजा की रक्षा करते थे। उसके पोषण के लिए अन्न-जल की व्यवस्था करते थे और उसे सन्मार्ग में प्रवर्तित करते थे। अतः वे ही सच्चे अर्थ में प्रजा के वास्तविक पिता थे। प्रजा के वास्तविक माता-पिता तो जन्म देने वाले केवल नाम के ही पिता थे। प्रजा के प्रति पिता का कर्त्तव्य तो राजा दिलीप ही निभाते थे। अतः वे सचमुच प्रजा के पिता थे : ''पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः'' (रघुवंश)।

विनयाधानात्- विनयस्य आधानात्- (षष्ठी तत्पुरुष)। विनय का शब्दार्थ है शिक्षा, उन्हें अच्छी शिक्षा देने से, उन्हें सन्मार्ग में प्रवृत्त करने से।

रक्षणात्- रक्ष्+ल्युट्। पञ्चमी एकवचन। विनयाधानात् रक्षणात् भरणात् में हेतु के कारण पञ्चमी है।

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः H 25H

अन्वयः- दण्ड्यान् स्थित्यै दण्डयतः प्रसूतये परिणेतुः मनीषिणः तस्य अर्थकामौ अपि धर्म एव आस्ताम्।

अनुवादः- लोकमर्यादा के पालन हेतु ही (द्वेष के कारण नहीं) अपराधियों के दण्ड देने वाले, सन्तान के लिए ही (भोगविलास के लिए नहीं) विवाह करने वाले, विद्वान् (बुद्धिमान्) राजा दिलीप के अर्थ और काम भी (लोकप्रतिष्ठा तथा वंशधर पुत्र को जन्म देने के कारण) धर्म ही बन गए थे।

टिप्पणियाँ :

विशेष- अपराधियों को दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य है। वह उन्हें शारीरिक दण्ड दे सकता है और धन का दण्ड भी। परन्तु राजा दिलीप धन संग्रह करने के लोभ में आकर ही अपराधियों को धन का दण्ड नहीं देते थे, अपितु अपराध के निवारण के उद्देश्य से ही अपराधियों को दण्डित करते थे जिससे राज्य में शान्ति और स्थिरता रहे और प्रजा निर्भय होकर अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त रहे।

स्थित्यै– लोकप्रतिष्ठा के लिए, राज्य में शान्ति और स्थिरता के लिए।

दण्डयान्- दण्ड+य, दण्डम् अर्हन्तीति दण्ड्याः, तान्, अपराधी लोग।

दण्डयतः– धातु दण्ड्+णिच्–शतृ, षष्ठी विभक्ति (अपराधी को) दण्ड देते हुए। कहा भी है–

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छति।।

'दण्ड्' का अर्थ यहां पैसे के रूप में सजा से ही है, अन्यथा 'अर्थ' की व्याख्या नहीं हो सकती।

परिणेतुः– परि उपसर्ग–धातु नि+शतृ+षष्ठी विभक्ति, एकवचन (सन्तान प्राप्ति के उद्देश्य से) विवाह करने वाले।

प्रसूतये- सन्तान के लिए।

अर्थकामौ- अर्थश्च कामश्च इति अर्थकामौ (द्वन्द्व समास)। मध्यस्थ (बीच के) पुरुषार्थद्वय। चार पुरुषार्थ हैं– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष।

धर्म एव– अर्थ और काम यद्यपि व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए उपादेय होते हैं परन्तु राजा दिलीप के लिए अर्थ और काम अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं थे अपितु दूसरों के सुख के लिए ही थे। अत: परोपकार के लिए होने के कारण उनके अर्थ तथा काम भी धर्म ही थे। राजा दिलीप अपराधियों को दण्ड देने के लिए ही उनसे धन लेते थे; व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं। अत: उनका अर्थ भी धर्म का ही रूप था। वे विषयभोग के लिए विवाह नहीं करते थे, अपितु पुत्र को जन्म देकर वंश परम्परा की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए 'काम' में प्रवृत्त होते थे। 'सन्तान' शब्द का एक अर्थ इसी मानवपरम्परा का विस्तार है। इसी प्रकार अर्थ अपने लिए नहीं अपितु प्रजा के कल्याण के लिए था। अत: उसके अर्थ और काम परार्थ के लिए होने के कारण धर्म ही थे। देखिए– ''धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'' (भगवद्गीता 7/11)

आस्ताम्– धातु अस् लङ्, अन्य पुरुष, द्विवचन, थे।

दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मधवा दिवम् ।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् H 26H

अन्वयः– स यज्ञाय गां दुदोह, स मधवा शस्याय दिवं दुदोह, उभौ सम्पद्विनिमयेन भुनवद्वयं दघतुः।

अनुवादः– वह (राजा दिलीप) यज्ञ करने के लिए पृथ्वी को दुहते थे (खनिजों, सुवर्ण, रत्नादि का खनन करते थे) और इन्द्र अन्न के लिए स्वर्ग को दुहता था (अन्न की वृद्धि के लिए आकाश से पृथ्वी पर जल की वर्षा करता था। इस प्रकार (दिलीप और इन्द्र) दोनों परस्पर सम्पत्ति का आदान-प्रदान करके (दिलीप खनिजों का खनन करके तथा प्रजा से कर लेकर इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करके और इन्द्र यज्ञ में प्रसन्न होकर दिलीप की पृथ्वी को अन्न से भरपूर करने के लिए समय पर वर्षा करके) दोनों लोकों का पालन करते थे।

टिप्पणियाँ :–

भारत के प्राचीन चिन्तक ऋषि मानते थे कि पृथ्वीलोक (भूलोक) और स्वर्गलोक एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। भूलोक के निवासी वर्षा के लिए द्युलोक-निवासी देवताओं पर अवलम्बित रहते हैं और स्वर्ग के वासी देवता अपना भोजन हविष्य प्राप्त करने के लिए पृथ्वीलोक के मनुष्यों पर आश्रित रहते हैं। यह विचार श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार व्यQ किया गया है–

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। (गीता 3/11)

यज्ञाय– यष्टुं, यज्+नङ् तुमुन् के अर्थ में चतुर्थी। मल्लिनाथ के अनुसार ''क्रियार्थोपपदस्य च'' से चतुर्थी।

गाम् दुदोह– उसने गौ (पृथ्वी) को दुहा ('कर' लिया अथवा धातु, रत्नादिकों का उत्खनन करवाया)। राजा दिलीप यज्ञ के लिए (अपने सुख के लिए नहीं) पृथ्वी से (लोगों से) 'कर' लेते थे ताकि 'कर' से प्राप्त धन से वे यज्ञ कर सकें और उससे देवता प्रसन्न होकर समय पर वर्षा करें और उससे राज्य में पर्याप्त अन्न हो और प्रजा सुखी रहे।

देखिए– ''यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'' (गीता 3/9)।

मघवा– इन्द्र।

शस्याय दिवम्– पृथ्वी पर अन्न उत्पन्न हो, इस उद्देश्य से इन्द्र स्वर्ग को दुहता था अर्थात् समय पर वर्षा करता था। मल्लिनाथ के अनुसार **'क्रियार्थोपपदस्य''** से चतुर्थी। **'पर्जन्यादन्नसम्भवः।''** (गीता / 14)

सम्पद्– सम्पत्ति का आदान-प्रदान करते हुए दिलीप और इन्द्र पृथ्वीलोक और स्वर्गलोक का भरण-पोषण करते थे। राजा दिलीप स्वर्ग के देवताओं के लिए हवि अर्पण करते थे और इन्द्र बदले में दिलीप की प्रजा

के लिए पृथ्वी पर जल की वर्षा करते थे। इस प्रकार दोनों परस्पर सम्पत्ति का आदान-प्रदान करते थे। दण्डनीति में कहा गया है–

राजा त्वर्थान् समाहृत्य कुर्यादिन्द्रमहोत्सवम्।
प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेत्।।

सम्पद्विनिमियेन–सम्पदः विनिमयेन (षष्ठी तत्पुरुष) सम्पद्विनिमयेन। सम्पदा के विनिमय से।

तौ दधतुः– वे दोनों भूलोक और द्युलोक को धारण करते थे। पालन करते थे। इसी प्रकार का विचार अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में अभिव्यक्त हुआ है–

तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु, त्वमपि विततयज्ञः स्वर्गिणः प्रीणयस्व।
युगशतपरिवर्तावनेवमन्योन्यकृत्यैः नयतमुभयलोकानुग्रह श्लाघनीयैः।।

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता H 27H

अन्वयः– राजानः रक्षितुः तस्य यशः न अनुययुः किल यत् तस्करता परस्वेभ्यः व्यावृत्ता श्रुतौ स्थिता (बभूव)।

अनुवादः– विपत्तियों से प्रजा की रक्षा करने वाले राजा दिलीप के यज्ञ का अनुकरण अन्य राजा न कर सके (दिलीप के समान यशस्वी न हो सके) क्योंकि दिलीप के राज्य में चोरी पराये धन से हट कर केवल सुनने में (कथा आदि में) ही रह गई (दिलीप के राज्य में चोरी नहीं होती थी)। (अतः चोरी वास्तव में नहीं होती थी, केवल उसका नाम ही था)।

टिप्पणियाँ :–

अनुययुः– अनु उपसर्ग+धातु या+लिट्, अन्य पुरुष, बहुवचन, अनुकरण किया, बराबरी कर सके।

व्यावृत्ताः–इस पंि की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। (1) दूसरों के धन से हटी हुई तस्करता (चोरी) केवल शब्द में ही रहती थी (भाव यह है कि दिलीप के राज्य में कहीं भी कभी चोरी नहीं होती थी। इसलिए मानो 'तस्करता' शब्द की ही चोरी हो गई थी)। (2) व्यवहार में कभी चोरी नहीं होती थी। अतः तस्करता (चोरी) केवल वाचक शब्द के ही रूप में विद्यमान थी। शब्द के व्यावहारिक अर्थ के रूप में नहीं। तस्करता शब्द केवल सुनने में ही रह गया था वास्तविक रूप में कभी चोरी होती देखी नहीं गई।

व्यावृत्ता–वि उपसर्ग–धातु वृत्+ +टाप्–हटी हुई, दूर हुई।

पर-स्वेभ्यः–दूसरो (पर) के धन (स्व) से।

तस्करता–तत्+कर। तत् तथा वृहत् के उपरान्त यदि 'कर' तथा 'पति' आये तो उनका अर्थ क्रमशः चोर तथा देवता हो जाता है। तथा अन्तिम त् का लोप होकर सुट् का आगम होता है।

द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता H 28H

अन्वयः–शिष्टः द्वेष्यः (सन्) अपि, आर्त्तस्य औषधं यथा तस्य सम्मतः आसीत्, दुष्टः प्रियः (सन्) अपि उरगक्षरता अXली इव तस्य त्याज्यः आसीत्।

अनुवादः–सज्जन (भला व्यक्ति) शत्रु होते हुए भी दिलीप को वैसे ही प्रिय था जैसे रोगी को कड़वी औषधि प्रिय होती है। दुष्ट (मनुष्य) प्रिय होते हुए भी वैसे ही त्याज्य था जैसे साँप से डसी अंगुली। (राजा दिलीप पक्षपात रहित थे। शिष्ट व्यक्ति ही उसका मित्र और दुष्ट ही उसका शत्रु था।)

टिप्पणियाँ :–

द्वेष्यः–द्विष्+यत्, शत्रु, घृणा के योग्य।

शिष्टः–सभ्य, उत्तम, सुशिक्षित (व्यQ), धातु शास्+इट्+Q।

सम्मतः–अनुमत, प्रिय, इष्ट।

उरगक्षता–उरगेन क्षता (तृतीया तत्पुरुष), उरग (साँप के द्वारा) क्षता (काटी गई)–अंगुली का विशेषण। सब प्राणियों को अपने शरीर के अंग प्रिय होते हैं और सदा उनकी रक्षा करते हैं, उन्हें कष्ट से बचाते हैं। परन्तु जब हमारे हाथ-पैर आदि अंगों को साँप काट लें और सारे शरीर में सर्पविष फैलने की आशंका हो तो हम उसे (अपने अंग को) प्रिय होने पर भी काट देते हैं। इसी प्रकार राजा दिलीप का प्रिय व्यक्ति भी यदि दुष्टता करता था तो वे उसे प्रिय होने पर भी दण्ड देने से हिचकिचाते नहीं थे। देखिए–**छिन्द्याबाहुमपि दुष्टमात्मनः।**

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।

तथाहि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः H 29H

अन्वयः–नूनं वेधा तं महाभूतसमाधिना विदधे, तथाहि तस्य सर्वे गुणाः परार्थैकफलाः आसन्।

अनुवादः–वास्तव में (यह निश्चित है कि) ब्रह्मा ने राजा दिलीप को महाभूतों की (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) (कारण) सामग्री से बनाया क्योंकि जैसे पञ्चभूतों के गुण दूसरों के लिए ही होते हैं वैसे ही) राजा दिलीप के सभी गुणों का फल भी दूसरों का हितसाधन ही था।

टिप्पणियाँ :–

इस श्लोक में महाराज दिलीप की परोपकारी वृत्ति का वर्णन है।

वेधा–स्रष्टा, जगत् को बनाने वाला ब्रह्मा।

महाभूत–ब्रह्म पञ्च महाभूतों से सृष्टि रचता है। उनके नाम हैं–आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी। सारी सृष्टि इन पञ्च महाभूतों के मिश्रण से बनी है।

समाधिः–समाधीयते अनेन इति समाधिः। महाभूतानां समाधिः (षष्ठी तत्पुरुष) महाभूतसमाधिः, तेन। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ किया है–कारणसामग्री, जैसे मिट्टी घड़े की कारण सामग्री है। कारण के गुण होते हैं। कालिदास कहते हैं कि ब्रह्मा ने दिलीप को महाभूतों की कारणसामग्री से रचा होगा। जैसे महाभूत दूसरों के हित के लिए ही होते हैं (पृथ्वी हमें अन्न देती हैं, जल हमारी प्यास बुझाता है, वायु से हम सांस लेते हैं और जीते हैं), वैसे ही दिलीप के विद्या, बुद्धि, शौर्य आदि गुण भी दूसरों के लिए ही काम आते थे, उनके अपने स्वार्थ के लिए नहीं। अतः यह निश्चित है कि ब्रह्मा ने जिस कारणसामग्री से पञ्चमहाभूतों को बनाया उसी कारणसामग्री से महाराज दिलीप को भी बनाया होगा।

विदधे–वि उपसर्ग+धा धातु, लिट्, आत्मनेपद, अन्य पुरुष, एकवचन।

परार्थैकफलाः–परेषाम् अर्थः (षष्ठी तत्पुरुष) परार्थः। एकं फलम् इति एकफलम्। परार्थ एव एकफलः येषां ते (बहुव्रीहि) परार्थैकफलाः। देखिए– ''वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः।''

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव H 30H

अन्वयः–स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् अनन्यशासनाम् उर्वीम् एकपुरीमिव शशास।

अनुवादः–(पृथ्वी के) चारों ओर का समुद्र तट ही जिसकी रक्षा की गोल दीवार है, स्वयं समुद्र ही जिसकी चारों ओर की (गहरी) खाई है और जिस पर (दिलीप को छोड़कर) किसी अन्य राजा का शासन नहीं है ऐसी (विस्तृत) पृथ्वी का दिलीप ने एक नगरी के समान (सरलतापूर्वक) शासन किया।

टिप्पणियाँ :–

प्राचीन भारत में प्रमुख नगर किले के रूप में होते थे। उनके चारों ओर रक्षा के लिए दीवार और गहरी खाई होती थी जिससे कोई शत्रु नगर में न घुस सके। इसी कारण से संस्कृत में 'पुर' शब्द 'नगर' और 'किला' दोनों अर्थों का वाचक है।

वेलावप्रवलयाम्–वप्राः एव वलयाः इति वप्रवलयाः (कर्मधारय), वेला एव वप्रवलयाः यस्याः) (बहुव्रीहि) सा वेलावप्रवलया, ताम्। समुद्र तट ही जिसकी गोल प्राचीर (दीवार) है। वप्र–प्राचीर, वेला–समुद्रतट। जैसे प्राचीन नगरों के चारों ओर प्राचीर होता था वैसे ही पृथ्वी भी नगर है जिसके चारों ओर के समुद्र प्राचीर के समान हैं। यह 'उर्वीम्' का विशेषण है।

परिखीकृतसागराम्–न अपरिखाः परिखाः सम्पद्यमानाः (''अभूततद्भावे च्विः'') इति परिखीकृताः। परिखीकृताः सागराः यस्याः सा (बहुव्रीहि), परिखीकृतसागरा, ताम्। समुद्र ही जिस पृथ्वी रूपी नगर की खाई का काम करता है। परिखा–खाई। गहरे समुद्र के रूप में चारों ओर व्याप्त खाई वाली (पृथ्वी पर) जैसे किले के आकार के प्राचीन नगर के चारों ओर खाई बनी रहती है वैसे ही समुद्र जिस पृथ्वी के चारों ओर खाई का काम करता है ऐसी पृथ्वी पर। इस शब्द से राजा दिलीप की चक्रवर्तिता की ध्वनि प्राप्त होती है।

अनन्यशासनाम्–न अन्यः अनन्यः (नञ् तत्पुरुष)। अविद्यमानं अन्यस्य शासनं यस्याः सा (बहुव्रीहि), अनन्यशासना, ताम्। जिस पर दिलीप को छोड़कर और किसी राजा का राज्य नहीं है। दिलीप ही जिसका एकमात्र शासक है। अर्थात् महाराज दिलीप चक्रवर्ती शासक थे।

उर्वीम्–पृथ्वी पर।

प्रस्तुत श्लोक का भाव यह है कि विस्तृत पृथ्वी पर अकेले शासन करते हुए रघुकुलमणि महाराज दिलीप को कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता था। जैसे एक छोटे नगर पर शासन करना होता है वैसे ही दिलीप बड़ी सुगमता से और अनायास ही समस्त भूमण्डल पर शासन करते थे। इसी बात को बताने के लिए कवि ने पृथ्वी के किले जैसे छोटे नगर के रूप में कल्पना की है।

इस प्रकार के एक (छत्र) चक्रवर्ती साम्राज्य तथा लोकोत्तर अद्वितीय यौवनाद्युपेत शरीर का भी त्याग महाराज दिलीप एक गाय (नन्दिनी) की रक्षा करने के लिए तत्पर थे। (देखिए रघुवंश द्वितीय सर्ग) इस प्रकार वे सचमुच रघुवंशी राजा थे।

पाठ 3

महाकाव्य रघुवंश (प्रथम सर्ग): मूल, अनुवाद तथा टिप्पणियाँ

(पाठ दो से आगे का भाग)

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा H 31H

अन्वयः–तस्य मगधवंशजा दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना अध्वरस्य (पत्नी) दक्षिणा इव सुदक्षिणा इति पत्नी आसीत्।

अनुवादः–उस राजा की मगधवंश में उत्पन्न, दाक्षिण्य (पति की चित्तवृत्ति के अनुकरण में कुशल) के कारण प्रसिद्ध 'सुदक्षिणा' इस नाम वाली पत्नी थी, जैसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा (लोक प्रसिद्ध है)।

टिप्पणियाँ :

मगधवंशजा–मगधानां वंशः इति मगधवंशः (षष्ठी तत्पुरुष), मगधवंशे जाता (उपपद तत्पुरुष) जिसका जन्म मगधों के (राज) घराने में हुआ था, ''सुदक्षिणा' का विशेषण है। इससे सुदक्षिणा की कुलीनता प्रकट होती है। वह नृपति दिलीप के अनुरूप कुल-गुण-शील वाली थी। मगधवंश+जन्+ड्+टाप्। उपपद सप्तम्यन्त होने पर जन् धातु में ड् प्रत्यय आता है। इस विशेषण से सुदक्षिणा के मातृकुल की उच्चता का द्योतन होता है।

दाक्षिण्य-रूढेन–दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्यम्। दाक्षिण्य की परिभाषा है–''**परच्छन्दानुवर्तित्वम्**'' अर्थात् दूसरों की चित्तवृत्ति का अनुकरण करने का गुण, शालीनता। दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा अपने पति की चित्तवृत्ति के अनुकूल कार्य करती थी। दाक्षिण्येन रूढम् दाक्षिण्यरूढम् (तृतीया तत्पुरुष), तेन। वह नाम (सुदक्षिणा) जैसे उनके दाक्षिण्य (शालीनता) गुणा के कारण प्रसिद्ध या प्रचलित हो गया था। इसी दाक्षिण्य गुण के कारण मानो उसका 'सुदक्षिणा' यह वैयि्क नाम सार्थक था अर्थात् वह यथानाम तथागुण थी।

अध्वरस्य–अध्वानं (स्वर्गमार्ग) राति ददाति इति अध्वरः अर्थात् स्वर्ग की ओर ले जाने वाला। अध्वर शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति है–न ध्वरः, अध्वरः अथवा, न ध्वरति इति अध्वरः। यज्ञ-हवन आदि।

दक्षिणा–यज्ञ में पुरोहितों को दिया जाने वाला एक प्रकार का यज्ञ-शुल्क। यज्ञ कराने वाले पुरोहित को यज्ञ के अन्त में शुल्क के रूप में प्रदान किया जाने वाला धन या द्रव्य; यज्ञ में 'दक्षिणा' को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसको यज्ञ-पत्नी माना गया है। दक्षिणा के बिना यज्ञ अधूरा समझा जाता है। देखिए–

दक्षिणा यज्ञपत्नी च दीक्षा सर्वत्र पूजिता।
यया विना ही विश्वेषु सर्व कर्म हि निष्फलम्।।

दक्षिणा के साथ सुदक्षिणा की तुलना, सुदक्षिणा की अत्यधिक पवित्रता की सूचक है। जिस प्रकार दक्षिणा के बिना यज्ञ निष्फल होता है, उसी प्रकार सुदक्षिणा के बिना दिलीप के धार्मिक यज्ञादि कर्म सफल नहीं होते थे।

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तथा मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः H 32H

अन्वयः–वसुधाधिपः महति अवरोधे (सति) अपि मनस्विन्या तया लक्ष्म्या च आत्मानं कलत्रवन्तं मेने।

अनुवादः–पृथ्वी के स्वामी (राजा) दिलीप बहुत-सी रानियों के होते हुए भी उदात्त मन वाली रानी सुदक्षिणा और राजलक्ष्मी से ही स्वयं को पत्नीवान् मानते थे।

टिप्पणियाँ :–

अवरोधः–अवरुध्यते इति अवरोधः; अव+रुध+घञ्। इस शब्द का अर्थ (1) राजा का महल तथा (2) महल में रहने वाली रानियाँ, दोनों ही लिया जाता है। रानियों के अर्थ में प्रयुक्त 'अवरोध' शब्द समूह-वाचक संज्ञा का काम करता है, जैसे सेना, श्रेणी आदि शब्द।

लक्ष्म्या–राजलक्ष्मी तथा पृथ्वी को राजा की पत्नी माना जाता है क्योंकि राजा राजकीय ऐश्वर्य का स्वामी और भोक्ता होता है। अतः दिलीप मनस्विनी सुदक्षिणा तथा राजलक्ष्मी को ही अपनी पत्नियाँ समझता था। जिस प्रकार दिलीप पृथ्वी को महत्त्व देता था वैसे ही सुदक्षिणा को। यह पद महारानी सुदक्षिणा के प्रति महाराज दिलीप की भावना का द्योतक है।

वसुधाधिपः–वसुधायाः अधिपः (षष्ठी तत्पुरुष), पृथ्वी का स्वामी, अर्थात् राजा दिलीप।

कलत्रवन्तम्–कलत्रम् अस्य अस्ति इति कलत्रवान्, तम् कलत्रवन्तम्; कलत्र+मतुप्, पत्नी वाला; वह जिसकी पत्नी है। 'वाला' के अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है। इसी प्रकार के भाव की अभिव्यंजना महाकवि कालिदासकृत अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में हुई है–

''परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।।''

विशेष–संस्कृत भाषा में लिX शब्द के अर्थ में नहीं, प्रत्युत शब्द में होता है। इसी कारण से 'पत्नी' अर्थ को प्रकट करने वाले 'कलत्रं' 'दारा' 'पत्नी' इन तीन शब्दों का एक ही अर्थ होने पर भी लिंग भिन्न-भिन्न हैं। 'कलत्रं' नपुंसकलिंग है, 'दारा' पुल्लिंग है और 'पत्नी' स्त्रीलिंग है। परन्तु इन तीनों भिन्न-भिन्न शब्दों का अर्थ स्त्रीलिंग 'पत्नी' नपुंसकलिंग है।

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः H 33H

अन्वयः–स आत्मानुरुपायां तस्यां (सुदक्षिणायां) आत्मजन्मसमुत्सुकः (सन!) विलम्बितफलैः मनोरथैः कालं निनाय।

अनुवादः–अपनी मनोनुकूल उस सुदक्षिणा में पुत्र के जन्म के लिए उत्सुक राजा ने देर से फल देने वाला (पुत्र प्राप्ति रूप) मनोरथ (अभिलाषा) करते हुए समय व्यतीत किया (राजा ने पुत्र की प्राप्ति की असफल आशा में बहुत समय बिताया अर्थात् दीर्घकाल तक उन्हें पुत्र-प्राप्ति नहीं हुई)।

टिप्पणियाँ :–

आत्मानुरूपायाम्–अनुगतं रूपमस्या इति अनुरुपा, आत्मनः अनुरुपा इति आत्मानुरुपा (षष्ठी तत्पुरुष), तस्याम्, अपने अनुरूप; सुदक्षिणा का विशेषण है। जिसमें दिलीप जैसे राजा की रानी बनने के योग्य गुण थे।

आत्मजन्म–श्रुति (वेद) पुत्र के विषय में कहती है **'आत्मा वै पुत्रनामाऽसि'**; अन्यत्र भी पुत्र के विषय में कहा है, **आत्मा वै जायते पुत्रः।** हिन्दुओं का विश्वास है कि पिता स्वयं पुत्र के रूप में अपनी पत्नी से पैदा होता है। भाव यह है कि पुत्र पिता का ही प्रतिबिम्ब होता है। पुत्र में पिता प्रकट होता है। (सन्तान सम्+ तन् (फैलाना) उस प्रकार से अपने ही अस्तित्व का विस्तार है। एक अर्थ में, इसी प्रकार मनुष्य अपने

अमरत्व की सिद्धि चाहता है। इस समस्त पद का दो प्रकार से विग्रह किया जा सकता है जिससे इस पद के दो अर्थ होते हैं।

(1) आत्मनो जन्म इति आत्मजन्मा (षष्ठी तत्पुरुष)। आत्मजन्मनि (पुत्ररुपेण उत्पत्तौ) समुत्सुकः–पुत्र के रूप में जन्म लेने के लिए उत्सुक (सप्तमी तत्पुरुष)।

(2) आत्मनः जन्म यस्यासौ आत्मजन्मा पुत्र (बहुव्रीहि) अर्थात् जिसका अपने से जन्म है। आत्मजन्मनि (पुत्रे) समुत्सुकः–पुत्र के जन्म के लिए उत्सुक। प्रसित तथा उत्सुक के साथ तृतीया अथवा सप्तमी आती है।

विलम्बितफलैः– विलम्बितं फलं येषां ते (बहुव्रीहि समास) तैः। यह समस्त पद 'मनोरथैः' का विशेषण है। वे (मनोरथ) जिनकी सफलता में विलम्ब (देरी) हो रहा है। अर्थात् देर के बाद सफल होने वाली कामनाएँ।

निनाय–नि+लिट्, अन्य पुरुष, एकवचन; व्यतीत किया, बिताया।

सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे H 34H

अन्वयः–तेन सन्तानार्थाय विधये स्वभुजात् अवतारिता जगतः गुर्वी धूः सचिवेषु निचिक्षिपे।

अनुवादः–पुत्र की प्राप्ति के निमित्त धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए राजा दिलीप ने अपनी भुजाओं से उतारा हुआ (प्रजापालन रूप) पृथ्वी का भारी बोझ मन्त्रियों के ऊपर रख दिया (उन्हें सौंप दिया)।

टिप्पणियाँ :–

सन्तानार्थाय–सन्तानाय इति सन्तानार्थः, तस्मै, सन्तानार्थाय। सन्तानः अर्थः प्रयोजनं यस्य सः सन्तानार्थः तस्मै सन्तानार्थाय (मल्लिनाथ)।

विधये–विधिः–धार्मिक अनुष्ठान (के लिए), चतुर्थी विभ्Q एकवचन।

गुर्वी–गुरु+ङीप् (उ के अन्त होने वाले विशेषण में विकल्प से ङीप् आता है) 'गुरु' से निष्पन्न स्त्री प्रत्ययान्त विशेषण, भारी।

निचिक्षिपे–नि उपसर्ग+क्षिप् धातु+कर्मणि लिट्, अन्य पुरुष एकवचन, (मन्त्रियों को) सौंप दिया, (उन पर) डाल दिया।

अवतारिता–अव+तृ+णिच्+Q +टाप्, उतारा हुआ; 'धूः' (भार) का विशेषण है।

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् H 35H

अन्वयः–अथ प्रयतौ तौ दम्पती पुत्रकाम्यया विधातरम् अभ्यर्च्य गुरोः वसिष्ठस्य आश्रमं जग्मतुः।

अनुवादः–तदन्तर पवित्र हुए दिलीप तथा सुदक्षिणा ने पुत्र की कामना से भगवान् ब्रह्मा जी की पूजा करके अपने कुलगुरु वशिष्ठ जी के आश्रम की ओर (पुत्रप्राप्ति के उपाय जानने के हेतु) प्रस्थान किया।

टिप्पणियाँ :–

विशेष– 35 से 46 श्लोक तक में राजा दिलीप और उनकी रानी सुदक्षिणा की वशिष्ठाश्रम के प्रति यात्रा एवं मार्ग का हृदयंगम वर्णन किया गया है।

अभ्यर्च्य–अभि उपसर्ग+अर्च् धातु+ल्यप् पूजा आराधना करने के पश्चात्।

प्रयतौ– प्र उपसर्ग+यम् धातु+क्त, प्रथम विभ़ि, द्विवचन, पवित्र, संयमी। 'तौ' सर्वनाम विशेषण है।

गुरुः–इसमें दो शब्द हैं- 'गु' एवं 'रु'। 'गु' का अर्थ है अन्धकार तथा 'रु' शब्द का अर्थ है हटाने वाला। 'गु-शब्दस्त्वन्धकारः, रु-शब्दस्तन्निरोधकः।' इस प्रसंग में अन्धकार का अर्थ है-अज्ञान (माया का आवरण)।

दम्पती–जाया च पतिश्चेति, राजदन्तादि, गण का द्वन्द्व समास। संस्कृत के विशेष नियम के कारण समास होने पर 'जाया' को 'दम्' या 'जम्' आदेश हो जाता है। अतः 'जाया' पद का पति से समाप्त होने पर तीन रूप निष्पन्न होते हैं–दम्पती, जायापती, जम्पती।

पुत्रकाम्यया–पुत्र (प्राप्ति) की इच्छा से। श्लोक में इस पद का दो प्रकार से अन्वय हो सकता है।

1. पुत्रकाम्यया विधातारम् अभ्यर्च्य, पुत्र की प्राप्ति की कामना से विधाता को पूजकर; पुत्रकाम्यया–तृतीया एकवचन; पुत्रकाम्य (नाम धातु)+अ+टाप्। पुत्रकाम्य की व्युत्पत्ति है–आत्मनः पुत्रमिच्छतीति पुत्रकाम्यति; पुत्र+काम्यच् प्रत्यय।

2. विधातारम् अभ्यर्च्य तौ पुत्रकाम्यया वशिष्ठस्य आश्रमं जग्मतुः–विधाता (ब्रह्मा) की पूजा करके वे दोनों वशिष्ठ ऋषि से पुत्र-प्राप्ति की कामना करते हुए उनके (वशिष्ठ के) आश्रम में गए। ब्रह्मा सृष्टि के पिता हैं अतएव वे सन्तान-प्राप्ति के लिए पूजे जाते हैं।

वशिष्ठ–प्राचीन भारत में जिस प्रकार राजा की पदवी कुल-परम्परा से प्राप्त होती थी, उसी प्रकार पुरोहित का पद भी वंश-परम्परागत होता था। अपने तपोबल से वशिष्ठ इक्ष्वाकु राजाओं के कुल-पुरोहित थे। विपत्ति या कष्ट होने पर इक्ष्वाकु राजा अपने वंश-परम्परागत कुल-पुरोहित के पास मन्त्रणा तथा सहायता के लिए आते थे। इसीलिए इक्ष्वाकु वंश राजा दिलीप भी सन्तान के न होने पर पुत्र-प्राप्ति की कामना से अपने कुल-पुरोहित महर्षि वशिष्ठ के पास आए।

जग्मतुः–गम्+लिट, अन्य पुरुष, द्विवचन, वे दोनों पहुंचे।

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव H 36H

अन्वयः–स्निग्धगम्भीनिघोषं एकं स्यन्दनम् आस्थितौ तौ प्रावृषेण्यं पयोवाहं (आस्थितौ) विद्युदैरावतौ इव (जग्मतु)।

अनुवादः–वे दोनों मधुर और गम्भीर शब्द करने वाले एक रथ पर चढ़े हुए ऐसे चले जा रहे थे जैसे वर्षाकाल के बादल पर ऐरावत और उसकी पत्नी विद्युत (बिजली) (सवार) हों।

टिप्पणियां :–

स्निग्ध–स्निग्धश्च गम्भीरश्च इति स्निग्धगम्भीरः स्निग्धगम्भीरो निर्घोषो यस्य सः (बहुव्रीहि), तम्। यह समस्त पद 'स्यन्दनं' और 'पयोवाहं' इन दो विशेष्य पदों की विशेषता बताने बताने वाला विशेषण पद है। वे जिनमें से मधुर और गम्भीर ध्वनि निकल रही है अर्थात् गम्भीर और मधुर ध्वनि करने वाले रथ और बादल। दोनों दिलीप तथा सुदक्षिणा के एक ही रथ पर आरोहण पर कालिदास ज़ोर देकर उनकी कार्यसिद्धि तथा पति-पत्नी के बीच अत्यन्त सौमनस्य को सम्प्रेषित करना चाहते हैं।

प्रावृषेण्यम्–प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः। वर्षा-ऋतु का, वर्षा-ऋतु में होने वाला; 'पयोवाह' का विशेषण है। प्रावृष+एण्यः।

पयोवाहम्–पयो वहति इति पयोवाहः, तम्। पयस्+वह्+अण्। बादल।

विद्युत–बिजली। विद्युत को ऐरावत की पत्नी माना जाता है।

विशेष–ऐरावत शब्द का प्रचलित अर्थ है–इन्द्र का सफेद हाथी। अतः 'ऐरावत' इन्द्र के सफेद हाथी का नाम है। परन्तु मल्लिनाथ के विचार में यहां 'ऐरावत' शब्द 'इन्द्र का हाथी' नहीं अपितु 'बादल' अर्थ का सूचक है। व्युत्पत्ति है–इरा=आपः (जल), इरावान्=समुद्र, तत्र भवः ऐरावत=मेघ जो समुद्र में से उत्पन्न होता है। इस प्रकार मल्लिनाथ के मत से प्रस्तुत पद्य में 'ऐरावत' पद का अर्थ है–मेघ, बादल। पौराणिक परम्परा के अनुसार भी ऐरावत का जन्म समुद्र से हुआ है। समुद्रमन्थन के समय निकलने वाले चौदह रत्नों में से एक ऐरावत था।

मा भूदाक्षमपीडेति परिमेयपुरःसरौ ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव H 37H

अन्वयः–आश्रमपीडा मा भूत् इति (हेतोः) परिमेयपुरः सरौ तु अनुभावविशेषात् सेनापरिवृतौ इव (स्थितौ)।

अनुवादः–(यद्यपि) उन दोनों ने आश्रमवासियों (ऋषियों) के कार्य में बाधा न हो, इस उद्देश्य से अपने साथ थोड़े ही सेवक ले रखे थे, फिर भी अपने प्रताप व तेज के कारण वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो सेना से घिरे हुए हों।

टिप्पणियाँ :–

मा भूत्–'मा' निषेधार्थक अव्यय है। 'भूत्' भू धातु का लुङ् लकार में अन्य पुरुष एकवचन रूप है जिसका यहां इच्छा या आशा के अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'भू' धातु का लुङ् लकार में 'अभूत्' रूप होता है। परन्तु जब निषेधार्थक 'मा' अव्यय का प्रयोग हो तथा इच्छा या आशा का अर्थ इष्ट हो तो धातु से पूर्व 'अ' आगम का लोप होकर 'भूत्' रूप रह जाता है। इसीलिए 'मा भूत्' है।

विशेष–प्राचीन भारत में क्षत्रिय राजा राजसत्ता के अधिकारी एवं शक्तिशाली होने पर भी ब्राह्मणों, विशेष रूप से तपोवन में वास करने वाले तपस्वियों और ऋषि-मुनियों का अत्यधिक आदर-सम्मान किया करते थे। वे राजसत्ता का अभिमान छोड़कर विनीत होकर उनसे मिलते थे। वे सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि ऋषि-मुनियों के धार्मिक अनुष्ठान में कोई बाधा न हो। इसीलिए राजा दिलीप जब वशिष्ठ ऋषि से मिलने के लिए आए तो उनकी वेशभूषा साधारण थी और उनके साथ राजकीय वैभव का प्रतीक विशाल सेना नहीं थी। उन्होंने अपने साथ थोड़े से ही सेवक रखे थे क्योंकि वे बड़ी सज धज से साथ आश्रम में प्रवेश करके वहां को लोगों के धार्मिक अनुष्ठान में किसी प्रकार की बाधा या अव्यवस्था उत्पन्न करना नहीं चाहते थे। तप और शान्ति के स्थान आश्रम में राजकीय आडम्बर से प्रवेश करना औद्धत्य का सूचक माना जाता है। अतः अपने कुलगुरु वशिष्ठ से राजा दिलीप विनीत वेष में तथा थोड़े से सेवकों को ही साथ लेकर मिलें। इसी प्रकार के भाव अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में भी व्यक्त किए गए हैं–

तपोवनवासिनाम् उपरोधो मा भूत्, अत्रैव रथं स्थापय। विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। **(अभिज्ञान-शाकुन्तलम् प्रथम अंक)**

परिमेयपुरस्सरौ–परिमेयाः (परि उपसर्ग+मा धातु+यत्) पुरः सुराः (पुरस् उपसगर्ण+सृ धातु+अच्) ययोः तौ (बहुव्रीहि), परिमेय (थोड़े-से, दो-चार) पुरस्सर (सेवक)। जिनके साथ थोड़े-से ही सेवक थे। दिलीप-सुदक्षिणा का विशेषण है।

अनुभाव विशेषात्–अनुभावस्य विशेषात् इति (षष्ठी तत्पुरुष)। अपने विशेष अनुभाव, प्रताप अथवा तेज के कारण।

सेनापरिवृतौ–सेनया परिवृतौ (परि+वृ+Q प्रथमा विभक्ति द्विवचन) इति तृतीया तत्पुरुष। सेना से घिरे हुए अर्थात् उनका दिव्य प्रताप मात्र ही उनकी सेना था (अन्य सेना तो मात्र अलVरण थी)।

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः H 38H

अन्वयः–सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः पुष्परेणूत्किरैः आधूतवनराजिभिः वातैः सेव्यमानौ (तौजग्मतुः)।

अनुवादः–(शीतलता के कारण सुखदायक स्पर्श वाली, साल वृक्ष के गोंद की गंध वाली, फूल के पराग को उड़ाने वाली और वन के वृक्ष की पंक्ति(ओं) को धीरे-धीरे कंपा देने वाली (ऐसी) वायु द्वारा जिनकी सेवा की जा रही थी (ऐसे) वे दोनों आश्रम की ओर जा रहे थे।

टिप्पणियाँ :–

सेव्यमानौ–सेव् धातु+कर्मणि लट्+शानच; सेवा किए जाते हुए।

सुख-स्पर्शैः– सुखः स्पर्शः येषां ते (बहुव्रीहि समास) तैः। जिसका स्पर्श सुखदायक है। 'वातैः' का विशेषण है।

विशेष–वायु में तीन गुण होते हैं। यह शीतल, सुगन्धयुक्त तथा मन्द होनी चाहिए। इन तीन गुणों वाली वायु उत्तम मानी जाती है। वशिष्ठ के आश्रम में जाते हुए दिलीप के लिए वायु सर्वथा उत्तम थी। उसका स्पर्श सुखदायक था। इससे प्रतीत होता है कि वह शीतल थी। उसमें साल वृक्षों के गोंद की गंध और फूलों का पराग मिला था। इससे प्रतीत होता है कि वह सुगन्धित थी। वह जंगल के वृक्षों को धीरे-धीरे हिला रही थी, इसमें प्रतीत होता है कि वह अनुकूल तथा मन्द थी। कालिदास का समूचा काव्य प्रकृति में रमा काव्य है। सूक्ष्म-से सूक्ष्म तन्तु को कालिदास की संवेदना पकड़ लेती है। उनके काव्य में केवल प्रकृति का मानवीकरण नहीं मिलता बल्कि मनुष्य का भी प्रकृतिकरण दृग्गोचर होता है। इसीलिए कालिदास के काव्य में फूहड़ रोमांटिकता नहीं मिलती। उसमें 'क्लासिकी' और 'रोमांटिक' दोनों धाराओं के स्वस्थ तत्त्वों का संतुलित सन्निवेश मिलता है। ठीक इसी प्रकार की सुखस्पर्श-सौगन्ध्यादियुक्त वायु का वर्णन महाकवि दिङ्नागकृत कुन्दमाला नामक नाटक में भी है, देखिए–**आदाय पङ्कजवनान्मकरन्दगन्धान् तव सभाजनकाङ्क्षयेव।** (कुन्दमाला, प्रथम अंक)

शाल–शालानां निर्यासः (शाल नामक वृक्षों की गोद) शाल-निर्यासः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य गन्धः शालनिर्यासगन्धः स अस्ति एषाम् इति शालनिर्यासगन्धिनः; तैः (बहुव्रीहि)।

पुष्प–पुष्पाणां रेणव पुष्परेणवः तेषां उत्किराः; तैः फूलों की पराग (धूल) को उड़ाने वाली। 'वातैः' का विशेषण है।

आधूत–वनानां राजयः इति वनराजय (षष्ठी तत्पुरुष), आधूता (आ+धू+Q) वनराजयः यैः ते (बहुव्रीहि), तैः; वन के वृक्षों की पंक्तियों को धीरे-धीरे कंपा देने वाली। 'वातैः' के विशेषण है।

मनोभिरामाः श्रृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनी केका द्विधाभिन्ना शिखण्डिभिः H 39H

अन्वयः–रथनेमिस्वनोन्मुखैः शिखण्डिभिः द्विधा भिन्नाः षड्जसंवादिनीः मनोभिरामाः केकाः श्रृण्वन्तौ (जग्मतुः)।

अनुवादः–रथ के पहियों की घरघराहट (को सुनने) से (मेघों के गरजने की भ्रांति से) ऊपर को मुख किए हुए मयूरों द्वारा दो प्रकार से उच्चारण की गई (शुद्ध, विकृत भेद से दो प्रकार के) षड्ज स्वर से मिलने वाली, मन को लुभाने वाली (मयूरों की) ध्वनि को सुनते हुए (वे दोनों जा रहे थे)।

टिप्पणियाँ :–

विशेष–प्रस्तुत श्लोक का संगीत शास्त्र से सम्बन्ध है। संगीत शास्त्र में सात प्रमुख स्वर प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम हैं–षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। षड्ज इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसका उच्चारण छह अंगों से **नासा कण्ठमुरस्तालु–जिह्वादन्तांश्च संस्पृशन्। षड्भ्यः संजायते यस्मात्तस्मात् षड्जइति स्मृतः।** किया जाता है। षड् (छह अंगों–नाक, कण्ठ, हृदय, तालु, जीभ, दांत) से जन्म लेने के कारण इसे षड्ज कहते हैं। षड्भ्यः जायते इति षड्जः। मोरों की ध्वनि, जिसे 'केका' कहते हैं, 'षड्ज' स्वर से मिलती है। कहा भी गया है– षड्जं वदति मयूर, अर्थात् मोर षड्ज स्वर में बोलता है। राजा और रानी षड्ज जैसी मोरों की ध्वनि सुनते जा रहे थे। यह ध्वनि श्रवण-मXल है।

मनोभिरामा–मनसः अभिरामाः अथवा अभिरमते मनो यासु ताः मनोभिरामाः (अभि उपसर्ग+रम् धातु+घञ्) मन को अच्छी लगने वाली, मधुर, 'केकाः' का विशेषण है। मनभावनी मयूर-ध्वनि।

षड्ज–षड्जेन संवादिनः इतिः षड्ज स्वर से मिलने वाली। 'केकाः' का विशेषण है।

केकाः–मोरों की ध्वनि या बोली। मयूरवाक् अथवा मयूर स्वर। यह ध्वनि अत्यन्त सुमधुर होती है।

द्विधा भिन्नाः–दो प्रकार से, दो तरह से उत्पन्न की गई। शुद्ध विकृत भेद से या च्युत अच्युत भेद से दो प्रकार की। 'केकाः' का विशेषण है। जैसे षड्ज स्वर दो प्रकार का (शुद्ध तथा विकृत एवं च्युत तथा अच्युत) होता है वैसे ही 'केकाः' भी दो प्रकार की थी।

रथनेमि–उद्गतं सुखं येषां ते उन्मुखा (बहुव्रीहि), रथस्य नेमयः इति रथनेमयः (षष्ठी तत्पुरुष); रथनेमीनां स्वनः, रथमेमिस्वनः (षष्ठी तत्पुरुष), तेन उन्मुखा रथमेमिस्वनोन्मुखाः, ते। 'शिखण्डिभिः' (मोरों द्वारा) का विशेषण है। वे मोर जिन्होंने राजा दिलीप के रथ के पहियों की ध्वनि को मेघों की गड़गड़ाहट समझ कर अपना मुख आकाश की ओर उठा लिया था।

शिखण्डिभिः–मोर की कलगी को शिखण्ड कहते हैं। शिखण्डः विद्यते अस्यासौ शिखण्डी। मोरों के द्वारा।

श्रृण्वन्तौ–श्रु धातु+शतृ, प्रथमा विभ़ि द्विवचन। वे दोनों सुनते हुए।

षड्जसंवादिनीः–षड्भ्यः स्थानेभ्यः जातः इति षड्जः। षड्जेन संवादिनीः सदृशीः (समान)।

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु H 40H

अन्वयः–अदूरोज्झितवर्त्मसु स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु मृगद्वन्द्वेषु परस्पराक्षिसादृश्यं पश्यन्तौ (जग्मतुः)।

अनुवादः–(रथ के) मार्ग को छोड़कर (विश्वास के कारण) पास ही खड़े हुए तथा रथ को एकटक दृष्टि से देखते हुए मृगों के जोड़ों में वे दोनों आपस में एक-दूसरे के नेत्रों की समानता (देखते हुए जा रहे थे)

टिप्पणियाँ :–

परस्पर–परस्य परस्य अक्ष्णाम् सादृश्यम् (षष्ठी तत्पुरुष), एक-दूसरे की आँखों में समानता। टीकाकार मल्लिनाथ का विचार है कि राजा दिलीप ने सुदक्षिणा के नेत्रों की समानता मृगियों के नेत्रों में देखी तथा सुदक्षिणा ने महाराजा दिलीप के नेत्रों की समानता मृगों के नेत्रों में देखी।

अदूरोज्झित–न दूरम् अदूरम् (नञ् तत्पुरुष), अदूरे उज्झितं वर्त्म यैः तै अदूरोज्झितवर्त्मनः (बहुव्रीहि), तेषु। 'मृगद्वन्द्वेषु' का विशेषण है। वे हरिण जो विश्वास के कारण रथ के मार्ग से बहुत दूर नहीं हटे थे। अतः बहुत पास ही खड़े थे। मृगों की निर्द्वन्द्वता की ध्वनि प्राप्त होती है।

विशेष–इससे प्रतीत होता है कि तपोवन में रहने वाले मृग निर्भय थे। उन्हें यह शंका नहीं थी कि कोई उन्हें पकड़ लेगा या मार डालेगा। इसलिए राजा का रथ देखकर भी वे रथ से बहुत दूर नहीं हटे अपितु रथ के लिए मार्ग छोड़ कर निकट में ही खड़े रहे। उन्हें राजा के रथ अथवा राजा या रानी से कोई भय नहीं लग रहा था। वे विश्वास के कारण निर्भय होकर खड़े थे। अपनी धर्मनिष्ठा के कारण से ही प्राचीन राजा प्राणी मात्र की श्रद्धा, विश्वास, निर्भरता आदि के पात्र बनते थे।

स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु–स्यन्दन अर्थात् रथ। आबद्ध–बन्धे हुए। स्यन्दने आबद्धाः दृष्टयः यै,ः ते, स्यन्दनाबद्धदृष्टयः तेषु, (बहुव्रीहि); जिनकी (उत्सुक) दृष्टि रथ पर लगी हुई थी। प्रायः यही भाव कालिदास ने स्वकीय नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल में भागते कृष्णसार (श्याम मृग) के वर्णन में दिया है–**मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः।** (अभि. शा., प्रथम अV)।

मृगद्वन्द्वेषु–मृगद्वन्द्व–जोड़ा। मृगाणां द्वन्द्वानि इति मृगद्वन्द्वानि, (षष्ठी तत्पुरुष), तेषु।

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ H 41H

अन्वयः–श्रेणीबन्धात् अस्तम्भां तोरणस्रजम् वितन्द्भिः कलनिर्ह्रादैः सारसैः क्वचित् उन्नमिताननौ (जग्मतुः)।

अनुवादः–(आकाश में उड़ते हुए) पंQ में बँधे होने के कारण मानो आधार-स्तम्भ के बिना ही लटकने वाली तोरण (नगर के बाहर का द्वार) की माला का दृश्य उपस्थित करने वाले तथा मधुर शब्द करने वाले सारस पक्षियों के कारण (उन्हें देखने के लिए) कभी ऊपर आकाश की ओर को मुख उठाए हुए (वे दोनों चले जा रहे थे)।

टिप्पणियां :–

श्रेणीबन्धात्–श्रेण्याः बन्ध इति श्रेणीबन्धः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्मात्–एक पंQ में बँधे होने के कारण (सारस पक्षी श्रेणी बनाकर उड़ रहे थे)। हेतु को दिखाने के लिए पंचमी का प्रयोग।

अस्तम्भाम्–नास्ति स्तम्भः (आधारः) यस्याः सा (बहुव्रीहि), ताम्। तोरणस्रजम् का विशेषण है। वह तोरण माला) जो किसी आधारभूत स्तम्भ (खम्भे) के बिना ही लटक रही है। बिना सहारे अपने-आप लटक रही है।

कलनिर्ह्रादैः–कलं (मधुर) निर्ह्रादं (शब्द) येषां ते (बहुव्रीहि) कलनिर्ह्रादाः, तैः, सारस पक्षियों द्वारा जिनका स्वर मधुर था। मधुर शब्द करने वाले सारसों द्वारा।

उन्नमिताननौ–उन्नमिते (उद् उपसर्ग+नम् धातु+णिच्+Q) आनने ययोः तौ (बहुव्रीहि)। जिनके मुख ऊपर आकाश की ओर उठे हुए थे।

तोरणस्रजम्–तोरणे (बहिर्द्वारे) स्रजम् (मालां) (सप्तमी तत्पुरुष)। नगर के बहिर्द्वार पर लटकने वाली माला अथवा किसी के स्वागत में खड़े किए गये कृत्रिम द्वारों पर बँधी हुई माला। माला स्तम्भ या द्वार के सहारे लटकी है। परन्तु आकाश में उड़ने वाले सारस पक्षी द्वार अथवा तोरण के बिना लटकने वाली माला के समान लग रहे थे क्योंकि वे एक पंQ बाँध कर उड़ रहे थे। संस्कृत साहित्य में तोरण को पुष्प मालाओं से सुसज्जित बताया जाता है क्योंकि तोरण की शोभा पुष्पमालाओं से होती है। अब भी विशिष्ट अतिथियों के सम्मान में मार्गों में तोरण बनाये जाते हैं और उन्हें पुष्पमालाओं से अलंकृत किया जाता है। महाकवि भासकृत स्वप्नवासवदत्तम् नाटक में भी तोरणमाला का वर्णन प्राप्त होता है।''**...मुखतोरण-लोलमालां भ्रष्टां क्षितौ त्वमवगच्छसि.......।**''

सारसैः–हेतु के कारण तृतीया। सारसों के कारण ही राजा तथा रानी ने मुख ऊपर उठाया था।

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ H 42H

अन्वयः–प्रार्थनासिद्धिशंसिनः पवनस्य अनुकूलत्वात् तुरगोत्कीर्णैः रजोभिः अस्पृष्टालकवेष्टनौ (जग्मतुः)।

अनुवादः–(पुत्र प्राप्ति के) मनोरथ की सफलता को सूचित करने वाली वायु के अनुकूल होने से (जिस दिशा में राजा दिलीप का रथ जा रहा था उसी दिशा की ओर वायु की गति होने से) घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूल रानी सुदक्षिणा के बाल तथा दिलीप की पगड़ी को छू (मैला कर) नहीं सकती थी।

टिप्पणियाँ :–

अनुकूलत्वात्–अनुगतः कूलमिति अनुकूलः (प्रादि समास); (वायु के) अनुकूल होने के कारण।

विशेष–यात्रा करते समय जिस दिशा में हम जा रहे हों, उसी दिशा की ओर यदि वायु चले तो इसे कार्य-सिद्धि का शकुन माना जाता है। वायु की अनुकुलता यह संकेत देती है कि यात्री जो कार्य करने जा रहा है, वह सफल होगा। राजा दिलीप भी पुत्र-कामना से वशिष्ठ ऋषि के आश्रम की ओर प्रस्थान कर रहे थे और वायु भी उसी दिशा की ओर बह रही थी जो इस बात की सूचक थी कि महाराज दिलीप की मनोकामना पूर्ण होगी। जिस दिशा में हम जा रहे हों उसी दिशा की ओर वायु का चलना वायु का अनुकूल होना है। जिस ओर दिलीप जा रहे थे वायु भी उसी ओर जा रही थी अतः उनके अनुकूल थी। ऐसे ही आनुकूल्य का प्रदर्शन वशिष्ठ महामुनि के दिलीप को आदेश देने पर नन्दिनी के आश्रम में लौट आने पर होता है। आनुकूल्य शुभ लक्षण है तथा प्रातिकूल्य अशुभ।

प्रार्थना–प्रार्थनायाः सिद्धिः (षष्टी तत्पुरुष), प्रार्थनासिद्धिं शंसितुं शीलमस्यास्ति इति। 'पवनस्य' का विशेषण है। वह वायु जो राजा दिलीप की मनोकामना की सफलता को सूचित कर रही थी।

अस्पृष्टा–न स्पृष्टमिति अस्पृष्टम् (नञ् तत्पुरुष), अलकाश्च वेष्टनञ्च इति अलकवेष्टने (द्वन्द्व समास), अस्पृष्टे अलकवेष्टने ययोः तौ (बहुव्रीहि समास), अस्पृष्टालकवेष्टनौ। रानी और राजा जिनके बाल और पगड़ी (धूल द्वारा) स्पर्श नहीं किए गए थे। वायु अनुकूल थी। अतः धूल उड़ने से रानी के बाल और राजा की पगड़ी मैली नहीं हुई।

अलकाः–बाल (रानी के)। वेष्टनम्–पगड़ी (राजा की)।

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणाम् H 43H

अन्वयः–सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलम् स्वनिःश्वासानुकारिणाम् अरविन्दानाम् आमोदम् उपजिघ्रन्तौ (जग्मतुः)।

अनुवादः–(मार्ग में आने वाले) तालाबों में लहरों के टकराने के कारण शीतल अपने श्वासवायु की सुगन्ध का अनुकरण करने वाली कमलों की सुगन्ध को सूंघते हुए दोनों जा रहे थे।

टिप्पणियाँ :–

उपजिघ्रन्तौ–उप उपसर्ग+घ्रा धातु+शतृ, प्रथमा विभ() (वे दोनों) सूँघते हुए।

आमोदः– सुगन्ध। आमोदन्ते जनाः अनेनेति, आ+मुद्+घञ्।

वीचिविक्षोभ–वीचीनां विक्षोभः (षष्ठी तत्पुरुष) वीचिविक्षोभः, तैः शीतलम् (तृतीया तत्पुरुष) इति वीचिविक्षोभ-शीतलम्–छोटी-छोटी लहरों से टकराने के कारण शीतल। (वह सुगन्ध) जो लहरों के स्पर्श से शीतल थी।

स्वनिश्वासानुकारिणम्–स्वस्य निश्वासः (षष्ठी तत्पुरुष) तम् अनुकर्तुम् शीलम् अस्य इति स्वनिश्वासानुकारी तम् (उपपद तत्पुरुष), (सरोवरों के कमलों की वह सुगन्ध) जो उनके श्वास के समान थी। अपने श्वास जैसी अर्थात् उनकी श्वास भी सुगन्धित थी।

विशेष–संस्कृत साहित्य में उत्तम पुरुषों की श्वासवायु (साँस) कमल की गन्ध के समान सुगन्धित मानी जाती है। राजाओं, रानियों तथा महापुरुषों का वर्णन करते हुए कवि उनकी श्वास वायु की गन्ध की तुलना कमल आदि सुगन्धित पुष्पों की गन्ध से करते हैं। राजा और रानी कमलों की गन्ध को सूँघ रहे थे जो उनके श्वास वायु की गन्ध जैसी थी।

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः H 44H

अन्वयः–आत्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु ग्रामेषु यज्वनाम् अमोघाः आशिषः अर्घ्यानुपदं प्रतिगृह्णन्तौ (जग्मतुः)।

अनुवादः–स्वयं (याज्ञिकों को दान में दिए हुए और जिनमें यज्ञ के स्तम्भ गड़े हुए थे, ऐसे ग्रामों में सांज्ञिकों के अर्घ्य (पूजा विधि) स्वीकार करने के पश्चात् याज्ञिकों (विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों) के सफल आशीर्वाद को लेते हुए (वे दोनों चले जा रहे थे)।

टिप्पणियां :–

आत्मविसृष्टेषुः–आत्मना विसृष्टेषु (विसृष्ट=वि उपसर्ग=सृज् धातु+Q) (सप्तमी बहुवचन), स्वयं के द्वारा दान में दिए हुए। अपने द्वारा छोड़े हुए अर्थात् दान में दिए हुए। विसृष्ट का अर्थ है 'दिए गए'।

यूपचिह्नेषु–यूपा एवं चिह्नानि येषां ते (बहुव्रीहि), तेषु। वे ग्राम जिनमें यज्ञ-स्तम्भ गड़े थे, जिनसे प्रतीत होता था कि वे राजा द्वारा दान में दिए हुए गांव हैं। भूमिदान महादानों में गिना जाता है।

यूप–यज्ञ-स्तम्भ। यज्ञ भूमि में गड़ा हुआ वह स्तम्भ जिसके साथ यज्ञ बलि देते समय बलिपशु बांधा जाता है। यज्ञ पूर्ण हो जाने पर भी इन बलिस्तम्भों को उखाड़ा नहीं जाता था। वे यज्ञ कर्म के चिन्ह के रूप में विधमान रहते थे। राजा ने यात्रा करते समय इन चिन्हों को देखकर जान लिया कि ये उसके ही द्वारा दान में दिए हुए गाँव हैं। यज्ञ में पशु-बलि उस काल में स्वीकृत थी। देखिए–''**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।**''

यज्वनाम्–यज्ञ करने वालो, याज्ञिकों की। यजन्ते इति यज्वानः।

अमोघाः–न मोघाः (बन्ध्याः असफलाः) इति अमोघाः, निष्फल न होने वाले। देखिए ''ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।'' –(उत्तररामचरितम्)

प्रतिगृह्णन्तौ–प्रति उपसर्ग+ग्रह धातु+शतृ प्रथमा विभQ, द्विवचन। (वे दोनों) याज्ञिकों के आशीर्वादों को ग्रहण करते हुए।

अर्घ्यानुपदम्–अर्घार्थ–द्रव्यम् अर्घ्यम् (किसी की पूजा या सम्मान करने के लिए अपेक्षित सामग्री अर्थात् राजा-रानी के प्रति सम्मान को सूचित करने के लिए उन्हें अर्पित की गई वस्तु) अर्घ+यत्=अर्घ्य, अर्घ्यस्य अनुपदम् इति। अर्घ्य को स्वीकार करने के पश्चात्।

हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् H 45H

अन्वयः–हैयंगवीनम् आदाय उपस्थितान् घोषवृद्धान् वन्यानां मार्गशाखिनाम् नामधेयानि पृच्छन्तौ (जग्मतुः)।

अनुवादः–(राजा और रानी को भेंट देने के लिए) गौ का ताजा घृत (घी) लेकर आए हुए गांव के वृद्ध अहीरों से मार्ग में आने वाले वन के वृक्षों के नाम पूछते हुए दिलीप और सुदक्षिणा जा रहे थे।

टिप्पणियाँ :–

हैयंगवीनम्–वह घी जो पिछले दिन से दूध से तैयार किया गया है। अर्थात् बिल्कुल ताजा। देखिए–''तत्तु हैयंगवीन यत् ह्योगोदोहोदभवं घृतम्''–अमरकोश। दुह्यते इति दोहः ह्योगोदोहस्य विकार हैयXवीनम् (हय+गोदोह+खञ्) यह अनियमित रूप है, यहाँ ह्योगोदोह के स्थान पर हियX आदेश हुआ है।

घोषवृद्धान्–घोषवासिनः वृद्धाः, तान् (मध्यमपदलोपी समास) अथवा घोषेषु वृद्धाः। गांव के वयोवृद्ध (बूढ़े) लोग। 'घोष' का अर्थ है पशुओं के पालक अहीरों की बस्ती और 'ग्राम' का अर्थ है–खेती करने वाले किसानों की बस्ती। राजा और रानी अहीरों की बस्ती–घोष में से गुजर रहे थे। अतः अहीरों ने उन्हें ताजा घी उपहार में दिया। घृत, मधु, दुग्ध आदि की गणना रत्नों में होती है। उनका उपहार विशेष माना जाता है।

विशेष–'वृद्ध', 'मुख्य' तथा 'श्रेष्ठ' आदि शब्दों का साधारण प्रचलित अर्थ है–आयु में बड़ा, मुखिया, प्रधान या अपने से ऊंचा। परन्तु इन शब्दों का प्रायः सामान्य प्रचलित अर्थों के अतिरिQ विशेष या पारिभाषिक अर्थों में भी प्रयोग होता है। उस दशा में इन शब्दों का अर्थ होता है ऐसा अधिकारी जो चुना गया हो अथवा नियुQ किया गया हो। प्राचीन भारत में गांव स्वयंशासित होते थे जिनका प्रशासन ग्रामीणों द्वारा निर्वाचित अथवा नियुQ एक प्रतिनिधि मण्डल चलाया करता था। ऐसे प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों को 'घोषवृद्ध' नाम दिया जाता था। प्रस्तुत श्लोक में 'घोषवृद्ध' शब्द का प्रयोग ऐसे ही पारिभाषिक अर्थ में किया गया प्रतीत होता है। अतः अर्थ है कि जब राजा दिलीप वशिष्ठ ऋषि के आश्रम को जाते हुए मार्ग में आने वाले गांवों में से गुजरे, तब ग्राम सभा के अधिकारी 'घोषवृद्ध' अधिकारी की स्थिति में, राजा दिलीप का राज्य के शासक के रूप में स्वागत करने के लिए उपस्थित हुए। आजकल भी अधिकारी की स्थिति में ऐसे ही शासक का स्वागत करते हैं।

मार्गशाखिनाम्–शाखाः विद्यन्ते एषाम् इति शाखिनः। मार्गस्थिताः शाखिनः इति मार्गशाखिनः (मध्यमपदलोपी समास), तेषाम्। मार्ग पर स्थित वृक्षों का (के)।

आदाय–आ उपसर्ग+दा धातु+ल्यप् लेकर या लाकर।

पृच्छन्तौ–प्रच्छ्+शतृ, प्रथमा विभQि द्विवचन, दोनों पूछते हुए।

काप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव H 46H

अन्वयः–व्रजतोः शुद्धवेषयोः तयोः हिमनिर्मुक्तयोः चित्राचन्द्रमसोः इव योगे (सती) काऽपि अभिख्या आसीत्।

अनुवादः–(शिशिर ऋतु के पश्चात् चैत्र पूर्णिमा में) कोहरे से मुQ हुए चित्रा नामक नक्षत्र तथा चन्द्रमा का परस्पर योग हो जाने पर जो शोभा होती है वैसी ही अपूर्व शोभा शुद्ध वेष (उजले वस्त्र) वाले महाराज दिलीप और सुदक्षिणा की मार्ग में जाते हुए हो रही थी।

टिप्पणियाँ :–

व्रजतोः–व्रजन्ती च व्रजंश्च इति व्रजन्तौ, तयोः व्रजतोः गच्छतौः (एकशेषद्वन्द्व)

व्रज्+शतृ+षष्ठी विभQि द्विवचन, उन दोनों जाते हुओं के या जाते हुओं की।

अभिख्या–शोभा। अभि उपसर्ग+ख्या धातु+अङ्।

चित्रा–चित्रा च चन्द्रमाश्च इति चित्राचन्द्रमसौ (द्वन्द्व) तयोः। सत्ताईस (27) नक्षत्रों के समूह में चित्रा चौदहवें (14) नक्षत्र का नाम है, जो आकाश में मोती के समान चमकता है। यह नक्षत्र चैत्र मास की पूर्णिमा को चन्द्रमा के साथ रहता है–अर्थ है, जिस प्रकार चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का योग होने पर उनकी शोभा होती है, उसी प्रकार सुदक्षिणा और दिलीप की शोभा थी। यहाँ चित्रा एवं चन्द्र संयोग उपमान है तो महाराज दिलीप एवं रानी सुदक्षिणा उपमेय। दोनों (उपमान एवं उपमेय) में वैधर्म्यरहित साधर्म्य के कथन से यहाँ उपमा अलंकार है।

हिम–हिमात् निर्मु॒यो: (पंचमी तत्पुरुष), धुंध या कोहरे से रहित। शिशिर ऋतु व्यतीत हो जाने के पश्चात् कोहरा हट जाने से चैत्र मास में चित्रा और चन्द्रमा उज्जवल हो उठते हैं और धवल सुषमा बरबस मन को मोह लेती है।

काऽपि–अनिर्वचनीया, अद्वितीय अभिख्या (शोभा)

तत्तद् भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः ।
अपि लंघितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः H 47H

अन्वयः–बुधोपमः प्रियदर्शनः भूमिपतिः पत्न्यै तत् तत् दर्शयन् लङ्घितमपि अध्वानं न बुबुधे।

अनुवादः–पण्डितों के समान बुद्धिमान् अथवा चन्द्र के पुत्र बुध ग्रह जैसे (सौम्य) तथा देखने में सुन्दर राजा दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा को मार्ग के उन दृश्यों को दिखाते हुए यह न जान पाए कि कब रास्ता पूरा हो गया।

टिप्पणियाँ :–

पत्नयै–''क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः'' से चतुर्थी विभ॒ । पत्नी को।

दर्शयन्–दृश् धातु+णिच्+शतृ, दिखाता हुआ।

लंघितम्–लंघ्+क्त, पार किया गया, 'अध्वानं' का विशेषण जाना, ज्ञात हुआ।

बुबुधे–बुध्+लिट्, अन्य पुरुष एकवचन। जाना, ज्ञात हुआ।

बुधोपमः–जो बुध जैसा है। बुध शब्द के अनेक अर्थ हैं–जैसे बुद्धिमान्, चतुर, विद्वान, देवता तथा बुध नामक ग्रह (जिसे चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है)।

इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से सिद्ध हो सकती है–

1. बुधः उपमा (उपमानं) यस्य सः बुधोपमः–जो पण्डित के समान था।
2. बुधः (सोमस्य चन्द्रस्य पुत्रो बुधनामा ग्रहः) उपमा यस्य, जो बुध ग्रह के समान सौम्य था।

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः H 48H

अन्वयः–दुष्प्रापयशाः श्रान्तवाहनः महिषीसखः सः सायं संयमिनः तस्य महर्षे आश्रमं प्रापत्।

अनुवादः–किसी अन्य पुरुष से बड़ी कठिनता से प्राप्त करने योग्य (दुर्लभ) यश वाले तथा (दूर तक यात्रा करने से) जिनके रथ के घोड़े थक गए हैं ऐसे राजा दिलीप अपनी महारानी (सुदक्षिणा) के साथ सायंकाल के समय उन (प्रसिद्ध) संयमी महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में पहुंचे।

टिप्पणियाँ :–

दुष्प्रापयशाः–दुःखेन प्राप्तुं शक्यं दुष्प्रापम्, दुष्प्रापं यशः असौ दुष्शप्रापयशाः (बहुव्रीहि समास), दुस् उपसर्ग+प्र उपसर्ग+आप् धातु+खल्। दूसरे के द्वारा बड़ी कठिनता से प्राप्त करने योग्य यश है जिसका, दुर्लभ यश वाला, दिलीप का विशेषण।

प्रापत्–प्र उपसर्ग+आप् धातु+लङ्, अन्य पुरुष, एकवचन, पहुँचा।

श्रान्तवाहनः–श्रान्ताः (थके हुए) वाहनाः (घोड़े) यस्य सः (बहुव्रीहि), जिसके घोड़े (दीर्घ यात्रा के कारण अब) थक गए थे। महिषीसखः का विशेषण है। वाहन का अर्थ है खींचने वाला, इसलिए जो गाड़ी को खींचता है अर्थात् अश्व।

महिषीसखः–महिष्याः सखा (षष्ठी तत्पुरुष) रानी का मित्र।

विशेष–'महिषीसखः' में सखि शब्द का समास होने पर 'राजाहः सखीभ्यष्टच्' इस पाणिनिसूत्र से सखि शब्द के पश्चात् समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ है। अतः 'सखि' के स्थान पर समास की अवस्था में अकारान्त 'सख' हो जाता। इसके रूप तब अकारान्त 'राम', 'देव' आदि शब्दों के समान चलते हैं, इकारान्त सखि के समान नहीं।

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः H 49H

अन्वयः–वनान्तरात् उपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः अदृश्याग्निप्रत्युद्यातैः तपस्विभिः पूर्यमाणम् (आश्रमम्)।

अनुवादः–वनान्तरों (दूसरे वनों) से लौटते हुए, समिधाएँ, कुशा और फल एकत्रित करके लिए हुए, तथा अदृश्य (अप्रज्ज्वलित) अग्नियों द्वारा स्वागत किए जाते हुए तपस्वियों से धीरे-धीरे परिपूर्ण होते हुए वशिष्ठ ऋषि के आश्रम में राजा और रानी पहुँचे।

टिप्पणियाँ :–

विशेष–इस श्लोक 49 से लेकर 53 श्लोक तक वशिष्ठ के आश्रम का वर्णन है। राजा सन्ध्या के समय आश्रम में पहुँचे थे, अतः इन श्लोकों में सायंकाल के समय आश्रम के दृश्य का वर्णन है।

समित्–तपस्वी जन यज्ञ के लिए समिधाएँ (लकड़ियों). पवित्र कुशा, घास तथा फल एकत्रित करने के लिए पास के वनों में गए थे। वे अब यज्ञ की सामग्री एकत्रित करके सायंकाल हो जाने पर आश्रम में लौट रहे थे। समिधश्च कुशाश्च फलानि च इति समिधकुशफलानि (द्वन्द्व समास) तानि आहर्तुंशीलं येषां ते समित्कुशफलाहराः (उपपद समास), तैः। दिलीप ने तपस्वियों को आश्रम में लौटते देखा, जो समिधाएँ आदि एकत्रित करके ला रहे थे।

वनान्तरात्–अन्यत् वन वनान्तरं (मयूरव्यंसकादिवत् समास), तस्मात् वनान्तरात्, उपावृत्तैः (उप+आ+वृत्+Q, तृतीया विभQ बहुवचन)। दूसरे जंगलों से लौटे हुए, 'तपस्विभिः' का विशेषण।

पूर्यमाणम्–पूर्+कर्मणि शानच् अथवा पृ+कर्मणि (कर्मवाच्य में) शानच्, तपस्वियों द्वारा भरा जाता हुआ, 'आश्रम' का विशेषण।

अदृश्याः–द्रष्टुं योग्यं दृश्यम्, न दृश्यम् अदृश्यम् (नञ् तत्पुरुष), अदृश्याश्च ते अग्नयश्च इति, अदृश्याग्नयः (कर्मधारय समास), अदृश्याग्निभिः प्रत्युद्यातः (प्रति+उद्+या+Q), तैः। जिस प्रकार बच्चे प्रवास से लौटे पिताओं का स्वागत करते हैं और प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार यज्ञ की पवित्र अग्नियाँ भी अदृश्य रूप में तपस्वियों का स्वागत करती हैं, जब वे सायंकाल के समय समिधाएँ आदि लेकर लौटते हैं। ऐसा विश्वास है कि घर

लौटते हुए तपस्वी का होम की अग्नियाँ अदृश्य अवस्था में स्वागत करती हैं। इसीलिए जब तपस्वी लौट रहे थे तो अग्नियाँ उनका स्वागत कर रही थीं परन्तु उन्हें कोई देख नहीं सकता था।

इस सन्दर्भ में ये वचन देखिए–कामं पितरं प्रोषितवन्तं पुत्राः प्रत्याधावन्ति।
एवमेतमग्नयः प्रत्याधावन्ति सकलान् दारुनिवाहरन्।।

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः H 50H

अन्वयः–नीवारभागधेयोचितैः उटजद्वाररोधिभिः ऋषिपत्नीनाम् अपत्यैरिव मृगैः आकीर्णम् (आश्रमम् प्रापत्)।

अनुवादः–नीवार नामक धान को खाने के अभ्यासी, पर्णकुटियों के द्वारों को रोककर खड़े तथा ऋषिपत्नियों की सन्तान के समान मृगों से भरे हुए आश्रम में पहुंचे।

टिप्पणियाँ :–

मृगैः आकीर्णम्–हिरणी से भरा हुआ। आकीर्णम्–आ उपसर्ग+कृ धातु+Q, 'आश्रम' का विशेषण।

उटजः–उटजानां (झोपड़ियों के) द्वाराणि (षष्ठी तत्पुरुष) तानि रोद्धु शीलं येषां ते उटजद्वाररोधिनः तैः। 'मृगैः' का विशेषण है, वे मृग जो कुटिया के द्वार पर खड़े हो जाते थे और रास्ते को रोक लेते थे। मृग पालतू थे और इतने अभ्यस्त एवं आश्वस्त थे कि कुटिया के द्वार पर मार्ग रोककर खड़े हो जाते थे।

नीवार–नीवाराणां भागः इति नीवारभागः (षष्ठी तत्पुरुष), नीवारभागः एवं नीवारभागधेयः (भागरूपनामभ्योधेय) नीवारभागधेयस्य उचिताः (षष्ठी तत्पुरुष), तैः 'मृगैः' का विशेषण। नीवार नामक जंगली धान के भाग (हिस्से) को खाने के अभ्यासी। वे मृग जिन्हें ऋषिपत्नियाँ स्नेहवश नीवार नामक वन्य-धान का कुछ भाग प्रतिदिन प्रदान करती थीं और इसी कारण वे इसे ग्रहण करने के अभ्यासी हो गए थे। इसे मुन्यन्न अथवा तिन्नी भी कहते हैं। इस नीवार का वर्णन आश्रम-सम्बन्ध से अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी महाकवि कालिदास ने भरपूर किया है।

विशेष–ऋषिपत्नियाँ सायंकाल के समय प्रतिदिन मृगों को अपने हाथों से नीवार नामक धान खिलाया करती थी। मृगों को प्रतिदिन नीवार खाने का अभ्यास हो गया था और वे नीवार का अपना भाग लेने के लिए प्रतिदिन सायंकाल के समय कुटिया के द्वार पर आकर खड़े हो जाते थे। अतएव जब दिलीप राजा सायंकाल के समय आश्रम में पहुँचे तो वहां कुटियों के द्वार पर मृगों के झुण्ड नीवार-प्राप्ति की आशा में खड़े हुए मिले।

ऋषिपत्नीनामपत्यैरिव मृगैः–मृगों के द्वारा, जो कि ऋषियों की पत्नियों के बच्चों के समान थे।

महाकवि कालिदास महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में रहने वाले ऋषि एवं उनकी पत्नियों के उस सौहार्द का चित्रण करते हैं जिसके कारण से वे लोग पशुपक्षियों से भी सहज बन्धु सा व्यवहार करते थे। इस भाव का चित्रण महाकवि ने अपने नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में भी किया है, जहाँ शकुन्तला एवं उसकी सखियां मृगशावकों एवं वृक्षों से भी आत्मीय सम्बन्ध रखती हैं।

पाठ 4

महाकाव्य रघुवंश (प्रथम सर्ग): मूल, अनुवाद तथा टिप्पणियाँ

(पाठ तीन से आगे का भाग)

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् H 51H

अन्वयः–आलवालाम्बुपायिनां विहXनां विश्वासाय मुनिकन्याभिः सेकान्ते तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् (आश्रमम् प्रापत्)।

अनुवादः–चक्रवर्ती सम्राट राजा दिलीप उस आश्रम में पहुंचे जहाँ वृक्षों को जल से सींचने के पश्चात् मुनि-कन्याएँ (वृक्षों के) आलवालों में सींचे गए जल को पीने वाले पक्षियों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए तुरन्त ही (उन सींचे हुए, वृक्षों के पास से) दूर हट जाती थीं।

टिप्पणियाँ:–

सेकान्ते–सेकस्य अन्ते (षष्ठी तत्पुरुष) (वृक्षों को) सींचने के पश्चात्। सेक=सिञ्च्+घञ्, सींचना। वृक्षों को सींचने के पश्चात्।

तत्क्षणोज्झित– स क्षणः इति तत्क्षणः (कर्मधारय) ह्रस्वा वृक्षा वृक्षकाः (अल्पार्थेक प्रत्ययः) तत्क्षणे उज्झिताः (उज्झ्+Q) वृक्षकाः यत्र सः, तत्क्षणोज्झितवृक्षकः (बहुव्रीहि) तम् (आश्रम का विशेषण), वह आश्रम जिसमें मुनिकन्याओं ने वृक्षों को पानी देने के पश्चात् तुरन्त छोड़ दिया था।

विशेष–जैसा पहले उल्लेख किया गया है कि आश्रम के निवासी पक्षियों से बहुत पक्षियों से बहुत स्नेह करते थे। वे उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहते थे और उनमें अपने लिए विश्वास का भाव स्थापित करना चाहते थे। अतएव मुनि-कन्याएँ वृक्षों के आलवालों को जल से भरकर दूर हट जाती थीं, जिससे पक्षी निर्भय होकर जलपान कर सकें। वृक्षों की जड़ों के चारों ओर जल देने के लिए गोदे गये गोलाकार गड्ढे को आलवाल कहते हैं। पक्षी प्रातः आलवाल में भरे हुए जल को पीते हैं।

विहंगानाम्–विहायसा गच्छन्तीति विहXाः, जो आकाश में विचरण करते हैं। विहायस् (आकाश)+गम्+खच्। पक्षियों का विश्वास।

विश्वासाय–विश्वासम् उत्पादयितुम्–**क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः** सूत्र से चतुर्थी। विश्वास के लिए।

आलवालाम्बु–आ (समन्तात्) जलस्य लवम् आलाति (गृह्णाति) इति आलवालम्, आ+लव+आ+ला+क। आलवालेषु यत् अम्बु इति आलवालाम्बु (सप्तमी तत्पुरुष)। आलवालाम्बु पातुं शीलं एषामिति, आलवालाम्बुपायिनः (उपपद तत्पुरुष), तेषाम्। आलवालाम्बु+पा+णिनि 'विहंगानाम्' का विशेषण। वे पक्षी जो वृक्षों की जड़ों के चारों ओर बने गोलाकार आलवाल में भरे वृक्षसेचन जल के पीने में अभ्यस्त थे।

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाXनभूमिषु H 52H

अन्वयः–आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु उटजाXनभूमिषु निषादिभिः मृगैः वर्तितरोमन्थम् (आश्रमम् प्रापत्)।

अनुवादः–(वह आश्रम) जहाँ पर्णशालाओं (पत्तों की कुटिया) की आँगन-भूमियों में, जिनमें सायंकाल हो जाने के कारण धूप के चले जाने से नीवार नामक धान को ढेरों के रूप में इक_ा कर रखा था, बैठे हुए हरिण जुगाली (रोमन्थ) कर रहे थे।

टिप्पणियाँ :–

आतपात्यय–आतपस्य अत्ययः (षष्ठी तत्पुरुष) इति आतपात्ययः, आतपात्यये संक्षिप्ताः नीवाराः यासु ताः (बहुव्रीहि), तासु 'आXनभूमिषु' का विशेषण। आतप=धूप, अत्यय=नाश, दूर हो जाना, संक्षिप्त=एकत्रित, सम्+धातु क्षिप्+Q, अत्यय=अति+धातु इण्+अच्।

विशेष–'नीवार' जंगली धान का नाम है जिसे तपस्वी खाते हैं। तपस्वियों ने 'नीवार' धान को धूप में सुखाने के लिए कुटिया के आंगन में बिछा रखा था। धूप चले जाने पर उसे इक_I कर उसकी ढेरियाँ बना रखी थी। जब महाराज दिलीप आश्रम में पहुंचे तो उन्होंने सायंकाल के समय झोपड़ियों की आंगन-भूमि में ऐसी नीवार की ढेरियां लगी देखी।

निषादिभिः–नि+धातु सद्+णिनि, तृतीया बहुवचन, बैठे हुए।

वर्तितरोमन्थम्–वर्तितः (धातु वृत्+णिच्+Q) रोमन्थः यस्मिन् (बहुव्रीहि), तम्। 'आश्रम' का विशेषण। वह आश्रम जहां नीवार की ढेरियों से भरी आँगन-भूमियों में बैठे हरिण जुगाली कर रहे थे। वर्तितः–किया, रोमन्थ–जुगाली, पागुर। उस प्रकार के दृश्य तपोभूमियों में अधिकतया दृष्टिगोचर होते हैं। कालिदास ने अपने नाटकों में भी ऐसे वर्णन किए हैं।

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः H 53H

अन्वयः–अभ्युत्थिताग्निपिशुनैः पवनोद्धूतैः आहुतिगन्धिभिः धूमैः आश्रमोन्मुखान्, अतिथीन् पुनानम् (आश्रमम् प्राप्तः)।

अनुवादः–(वह आश्रम) जो प्रज्वलित (होम योग्य) अग्नि की सूचना देने वाले, वायु से इधर-उध र उड़ाये गए तथा हवन-सामग्री की गंध वाले धुएँ से आश्रम की ओर आते हुए अतिथियों को पवित्र कर रहा था।

टिप्पणियाँ :–

प्रस्तुत श्लोक में मुख्य वाक्य है–**''अतिथीन् धूमैः पुनानम्'',** तृतीया विभQ बहुवचनान्त पद 'धूमैः' के विशेषण हैं।

अभ्युत्थिता...अभ्युत्थिताः (अभि+उत्+धातु स्था+Q) अग्नयः इति (कर्मधारय), अभ्युत्थिताग्नीनां (षष्ठी तत्पुरुष), तैः। प्रज्जवलित होमाग्नि को सूचित करने वाला धुआँ। अभ्युत्थित=उठी हुई अर्थात् प्रज्जवलित, पिशुनैः= सूचक।

आहुतिगन्धिभिः–आहुतीनां गन्धः इति आहुतिगन्धः (षष्ठी तत्पुरुष), आ–धातु हू+Qन्=आहुति। आहुतिगन्धः एषां अस्ति इति आहुतिगन्धिनः (बहुव्रीहि) तैः, आहूतिगन्ध+इनि। जली हुई घी, दही आदि हविष्य की सामग्री की गन्ध जिनमें से आ रही है ऐसा धुआँ।

पवनोद्धूतैः–पवनेन (वायु से) उद्धूतैः (उड़ाए हुए धूएँ से), तृतीया तत्पुरुष। उद्धूत+उत्+धातु धू+Q, आश्रमोन्मुखान्–उद्गतानि मुखानि येषां ते उन्मुखाः (बहुव्रीहि), आश्रमस्य उन्मुखाः (षष्ठी तत्पुरुष), तान्। अतिथीन् का विशेषण। •आश्रम की ओर आते हुए अतिथियों को।

• आश्रमोन्मुखाः का अर्थ है आश्रम की ओर जाने के उत्सुक। इसलिए उद्गत का दूसरा अर्थ है 'उत्सुक'

पुनानम्–पवित्र करता हुआ, आश्रम का विशेषण। धातु पू+शानच्। यज्ञाग्नि धूम से आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण की पवित्रता होती है। इस प्रसंग से यज्ञ, यज्ञाग्नि एवं तज्जन्य धूम की महिमा अथवा गरिमा की ध्वनि प्राप्त होती है। रघुवंश में भी शुद्ध करने वाली अग्नियों का उल्लेख मिलता है।

''त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेः तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।

घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा।। (13-37)

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।

तामवारोहयत्पत्नीं रथादवतार च ॥ 54॥

अन्वयः–अथ सः यन्तारं 'धुर्यान् विश्रामय' इति आदिश्य तां पत्नीं रथात् अवारोहयत् अवततार च।

अनुवादः–आश्रम में पहुँचकर राजा सारथि को 'घोड़ों की थकान दूर करो' ऐसा आदेश देकर रथ से पहले आप उतरे, तदनतर अपनी पत्नी सुदक्षिणा को उतारा।

टिप्पणियाँ :

यन्तारं–सारथि, रथ चलाने वाला (हाँकने) वाला, धातु यम्+तृच्, द्वितीया विभक्ति एकवचन।

आदिश्य–आ+धातु दिश्+ल्यप्, आदेश देकर।

धुर्यान्–धुरं वहन्ति इति धुर्याः, धुर्+यत्। बोझ उठाने वाला पशु, यहाँ अर्थ है रथ से जुते हुए घोड़ो को।

अवारोहयत्–अव+धातु रुह्+णिच्। लङ्, अन्य पुरुष, एकवचन। उतरने में सहायता की।

विश्रामय–वि+धातु श्रम्+णिच् लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। तुम घोड़ो को आराम कराओ, उनकी थकान हटाओ।

अवततार–अव+धातु तृ, लिट्, अन्य पुरुष, एकवचन। उतरा।

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।

अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ 55॥

अन्वयः–सभ्याः गुप्ततमेन्द्रियाः मुनयः सभार्याय गोप्त्रे अर्हते नयचक्षुषे तस्मै अर्हणां चक्रुः।

अनुवादः–(तब) सभ्य (व्यवहार-कुशल), जितेन्द्रिय मुनियों ने प्रजा के पालक, नीतिरूपी नेत्र वाले (नीतिज्ञ), तथा पूजा के योग्य राजा का, उसकी सुदक्षिणा के साथ, स्वागत किया।

टिप्पणियाँ :

विशेष–प्राचीन भारत में अतिथि-सत्कार को पुण्य समझा जाता था। गृहस्थ तथा तपस्वी के नित्य कर्मों में जिन पञ्चमहायज्ञों का विधान किया गया है, उनमें अतिथि-पूजन को भी यज्ञ का स्थान दिया गया है और उसे 'नृयज्ञ' कहा जाता है। उसकी महत्ता का परिचायक **अतिथिदेवो भव** भारतीय सभ्यता का मूल मन्त्र है–अर्थात् अतिथि को ईश्वर मानो। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वशिष्ठ के आश्रम के ऋषियों ने अपना पुण्य कर्त्तव्य समझ दिलीप और उसकी पत्नी सुदक्षिणा का सत्कार किया। प्राचीन भारतीय समाज में अतिथि-यज्ञ के महत्व पर विदेशी यात्रियों ह्यूनसाँग, मेगस्थानीज आदि ने अपनी मुग्धता का परिचय दिया।

अतिथि-पूजन के तीन मुख्य अंग हैं–(1) पाद्य (हाथ और पैर धोने के लिए अतिथि को जल अर्पण करना), (2) अर्घ्य (आचमन के लिए जल अर्पण करना) और (3) मधुपर्क अल्पाहार के लिए फल-मधु आदि अर्पण करना)।

गुप्ततमेन्द्रिया:–अतिशयेन गुप्तानि इति गुप्ततमानि (धातु गुप्+Q +तमप्); गुप्ततमानि इन्द्रियाणि येषां ते (बहुव्रीहि)।

गोप्त्रे–धातु गुप्+तृच्–गोप्तृ (रक्षक) शब्द का चतुर्थी विभQ में एकवचन। प्रजापालक राजा के लिए। **प्रजानां विनधाधानात् रक्षणात् भरणादपि** (रघुवंशम्)

सभ्य:–सभायां साधव: इति सभ्या: (सभा+यत्) अक्षरार्थ है–सभा में रहने वाले, सभा में कुशल। परन्तु यहाँ अर्थ 'नम्र' 'शिष्ट' है।

अर्हते–'अर्हत्' (धातु अर्ह्+शतृ) का चतुर्थी विभQ एकवचन, योग्य राजा के लिए।

नयचक्षुषे–'अर्हत्' (धातु अर्ह्+शतृ) का चतुर्थी विभQ एकवचन, योग्य राजा के लिए।

नयचक्षुषे–नय: एव चक्षु: यस्य स: (बहुव्रीहि), तस्मै (उस राजा के लिए) जिसकी नीति ही आँख है। देखिए–**सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यंध एव स:।** भारवि ने गुप्तचरों को (क्योंकि गुप्तचर भी नीति का एक आयाम है) राजा के चक्षुओं के रूप में माना है–**क्रियासु युQ नृप चार-चक्षुषो न वञ्चनीया:** (किरातार्जुनीयम्, 14)

विधे: सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् H 56H

अन्वय:–स: सायन्तनस्य विधे: अन्ते स्वाहया अन्वासितम् हविर्भुजम् इव अरुन्धत्या अन्वासितम् तपोनिधिं ददर्श।

अनुवाद:–राजा दिलीप ने सायंकालिक सन्ध्यावन्दनादि विधि के अनन्तर अपनी पत्नी अरुन्धती से सेवित तपस्वी ऋषि वशिष्ठ को इस प्रकार बैठे देखा जैसे अपनी पत्नी स्वाहा देवी से सेवित साक्षात् अग्निदेव हों।

टिप्पणियाँ :–

सायंतनस्य विधे:–सायंकाल के समय की जाने वाली विधि (जप-होम-अनुष्ठान के पूर्ण करने के बाद। प्रत्येक तपस्वी के लिए सन्ध्या समय जप अग्निहोत्र आदि धार्मिक कृत्य करना आवश्यक है। जब राजा-रानी आश्रम में पहुँचे तो वशिष्ठ ऋषि भी संध्याकालीन धार्मिक अनुष्ठान में व्यस्त थे। अत: सन्ध्याकालीन विधि के अनन्तर वशिष्ठ ने राजा से भेंट की। पूजाविधि में व्यस्त तपस्वी के निकट जाने से तत्तत् क्रिया में विघ्न के भय से धर्म-शास्त्रों में ऐसी अवस्था में उनके निकट जाने का निषेध है। देखिए **''फलपुष्प -कुशाग्न्यम्बुमृदन्नक्षतपाणिक:। जपं होमं च कुर्वाणो नाभिवाद्यो द्विजो भवेत्।''** सायंतन=स्यम्+तन। सायं, चिरं, प्राह्णे तथा प्रगे अव्ययों के पश्चात् ट्यु तथा ट्युल् लगाया जाता है तथा शब्द और प्रत्यय के बीच त् आगम होता है। विधे:–जप-होम आदि अनुष्ठान के।

ददर्श–धातु दृश्+लिट्। देखा। राजा ने वशिष्ठ को देखा जिसके पीछे उसकी पत्नी अरुन्धती बैठी थी। 'अरुन्धती के द्वारा सेवित'–यह कर्मवाच्य में प्रयोग है।

हविर्भुजम्–हवींषि भुनQ इति हविर्भुक् (हविस्+धातु भुज्+क्विप्)। वह जो घी दूध आदि हविष्य (आहुति) को खाती है, अर्थात् अग्नि को। देखिए–''वहति विधिहुतं या हवि:।'' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

स्वाहा–प्राय: स्वाहा का अर्थ है वह ध्वनि जिसका अग्नि में देवताओं के लिए आहुति डालते समय मन्त्र के अन्त में उच्चारण किया जाता है। अर्थात् अग्नि में आहुति डालते समय किया गया शब्दोच्चारण। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में स्वाहा का अर्थ अग्नि की पत्नी के रूप में ग्रहण किया गया है।•

अन्वासितम्–यद्यपि आस् धातु अकर्मक है किन्तु अनु उपसर्ग सहित यह सकर्मक हो जाती है।

तयोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः H 57H

अन्वयः–मागधी राज्ञी राजा च तयो: पादान् जगृहतु:, गुरुपत्नी गुरुश्च तौ प्रीत्या प्रतिननन्दतुः।

अनुवादः–मगधराज की पुत्री रानी सुदक्षिणा और राजा दिलीप दोनों ने ही गुरु वसिष्ठ और गुरुपत्नी अरुन्धती के चरण स्पर्श किए। तब दोनों (गुरु वसिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती) ने प्रेमपूर्वक राजा-रानी को आशीर्वाद दिया।

टिप्पणियाँ :–

जगृहतुः–धातु ग्रह् +लिट्, अन्य पुरुष द्विवचन। उन दोनों ने छुआ, पकड़ा।

मागधी–(राज्ञी) मगधराज की पुत्री।

तौ–द्वितीया विभ॒ का द्विवचन। वे उन दोनों (दिलीप तथा सुदक्षिणा) की। 'तौ' प्रतिननन्दतु क्रिया का कर्म है।

प्रतिननन्दतुः–प्रति+धातु नन्द्+लिट्, अन्य पुरुष, द्विवचन। उन दोनों (ऋषि, ऋषिपत्नी) ने उन दोनों (राजा-रानी) को प्रसन्न किया, आशीर्वाद दिया अथवा सत्कार किया।

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः H 58H

अन्वयः–मुनि: आतिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् राज्याश्रममुनिं तं राज्ये कुशलं पप्रच्छ।

अनुवादः–तब वशिष्ठ ऋषि ने, राज्य को आश्रम समझ उसमें मुनि के समान आचरण करने वाले राजा दिलीप से, जिसकी रथ के हिचकोलों के कारण हुई थकान अतिथि सत्कार से दूर हो गई थी, राज्य के विषय में कुशल-क्षेम पूछा।

टिप्पणियाँ :–

आतिथ्य–यह लम्बा समास है। आतिथ्यस्य (अतिथि सत्कार) क्रिया (षष्ठी तत्पुरुष) इति आतिथ्य-क्रिया, रथ-क्षोभेण (जात:) य: परिश्रम: स: रथक्षोभपरिश्रम:, आतिथ्यक्रियया शान्त: यस्य स आतिथ्यक्रियाशान्त-रथक्षोभपरिश्रम:, तम् (बहुव्रीहि), वह दिलीप जिसकी रथ के हिचकोलों से हुई थकान ऋषि द्वारा किए गए आतिथ्य से दूर हो गई थी। ऋषि के अतिथिसत्कार से दिलीप की मार्ग की थकान दूर हो गई, ऐसे दिलीप को।

पप्रच्छ–धातु प्रच्छ्+लिट्, अन्य पुरुष, एकवचन। पूछा।

विशेष–दुह, याच् आदि धातुओं के समान प्रच्छ् धातु भी द्विकर्मक है। अत: इसके यहां दो कर्म हैं: 'कुशल' प्रधान कर्म तथा 'आश्रम मुनि' गौण कर्म।

● 'अथाग्नार्या स्वाहा च हुतभुक् प्रिया' इत्यमर:।

राज्याश्रममुनिम्–राज्यमेव आश्रमः इति राज्याश्रमः (कर्मधारय), राज्याश्रमे मुनिः (सप्तमी तत्पुरुष), तम्। राजा का विशेषण। वह राजा जो राज्य रूपी आश्रम कें मुनि के समान आचरण करता था। देखिए–''**पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।**'' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)।

विशेष–कालिदास अपने काव्य के नायकों को राजा होने पर भी ऋषि के रूप में चित्रित करते हें। इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुन्तल में दूसरे अंक के 14 वें पद्य में उन्होंने दुष्यन्त को भी राजर्षि कहा है। देखिए–''**अध्याक्रान्त वसतिर-मुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये**'' इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि कालिदास के नायक राजा होने पर भी भोगी, विलासी नहीं है अपितु मुनि के समान अनासQ होकर प्रजा के कल्याण में लगे रहते हैं।

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ।H 59H

अन्वयः–अथ विजितारिपुरः वदतां वरः अर्थपतिः अथर्वनिधेः तस्य पुरः अर्थ्या वाचमाददे।

अनुवादः–(वशिष्ठ जी के कुशल पूछने के) अनन्तर शत्रुओं के नगरों को जीतने वाले, वQ ाओं में श्रेष्ठ, धन के स्वामी राजा दिलीप ने अथर्ववेद की विद्या के ज्ञाता वशिष्ठ के सामने इस प्रकार सार्थक वचन कहे।

टिप्पणियाँ :–

अथर्वनिधेः–अथर्वणः निधिः, तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)। अथर्व विद्या के ज्ञाता।

विशेष–अथर्ववेद का पूरा तथा ठीक नाम है–'अथर्वाXरस', पुरोहितों तथा ऋषियों के प्राचीन दो कुल प्रसिद्ध थे जिनके नाम थे (1) अथर्वन्, (2) आXरस। ब्लूमफील्ड नाम विदेशी विद्वान् के मत में 'अथर्वन्' नाम पाप की नाशक, शांतिदायक, पौष्टिक आदि मंगलकारी विधियों के अर्थ में प्रयुQ था जबकि 'आXरस' नाम ऐसे जादू के मन्त्रों का सूचक था जिनका प्रयोग मारण-उच्चाटन आदि अनिष्ट एवं हानिकारक अशुभ कार्यों के लिए किया जाता था। इस प्रकार अथर्ववेद में दो प्रकार के मन्त्र थे, शुभ कार्यों के लिए प्रयोग किए जाने वाले मन्त्र जिन्हें 'अथर्वविद्या' कहा जाता था तथा अशुभ कार्यों के जादू टोना करने वाले मन्त्र जिन्हें आXरस' कहा जाता था। अथर्वविद्या उत्तम तथा आXरस हीन कोटि की मानी जाती थी। राजा के पुरोहित के लिए दोनों विद्याओं का ज्ञान आवश्यक था। इनकी सहायता से वह राजा के अनिष्ट का निवारण कर उसकी रक्षा करता था। भाव यह है कि पुरोहित होने के कारण वशिष्ठ अथर्वविद्या में प्रवीण थे। इसी कारण पुत्र के न होने पर राजा-रानी वशिष्ठ ऋषि के पास पुत्र-प्राप्ति का उपाय जानने के लिए आए।

विजितारिपुरः–अरीणां पुराणि, अरिपुराणि (षष्ठी तत्पुरुष), विजितानि अरिपुराणि येन सः (बहुव्रीहि) राजा का विशेषण। जिसने अपने शत्रुओं के नगरों (राजधानियों) को जीत लिया था। शत्रुओं के विजेता, राजा दिलीप। शत्रुजित्।

अर्थ्याम् (वाचम्)–अर्थात् अनपेताम्, अर्थोपेताम् (अर्थ+यत्), सार्थक, विशिष्ट अर्थ से परिपूर्ण। देखिए–"स सौष्ठवौदार्यविशेषाशालिनी विनिश्चतार्थमिति वाचमाददे।'' (किरातार्जुनीयम्, प्रथम सर्ग)।

वदतां वरः–वQ ाओं में श्रेष्ठ, उत्तम वQ ा दिलीप। वदतां–धातु वद्+शतृ, षष्ठी बहुवचन। 'यतश्चस निर्धारणम्' सूत्र से षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वXेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् H 60H

अन्वय–सप्तसु अXेषु शिवम् उपपन्नम्। ननु यस्य दैवीनां मानुषीणां च आपदां त्वम् प्रतिहर्ता (असि)।

अनुवादः–मेरे राज्य के सातों अंगों (स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग, बल) में सर्वथा कुशल ही है क्योंकि मेरी दैवी तथा मानुषी दोनों प्रकार की विपत्तियों को हटाने वाले (स्वयं) आप विद्यमान हैं।

टिप्पणियाँ :–

इस पद्य का अन्वय ध्यानपूर्वक देखिए–(मे राज्यस्य) सप्तस्वXषु शिवं उपपन्नं ननु–मेरे राज्य के सातो अंगों का कुशल उचित होना ही है अर्थात् आप जैसे अथर्वविद्यावेत्ता गुरु के मेरी रक्षा में तत्पर रहने के कारण मेरे राज्य के सातों अंगों में कुशल होना स्वाभाविक ही है।

सप्तस्वXषु–सप्तसु+अंगेषु; सात अंगों में।

विशेष–प्राचीन राजनीतिशास्त्र के ज्ञाताओं याज्ञवल्क्य, चाणक्य आदि के मत में राज्य के सात अंग माने गए हैं। देखिए–

स्वाम्यमात्यो जनो दुर्गः कोशो दण्डस्तथैव च।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताXमुच्यते।। (याज्ञवल्क्यस्मृति 1.353)

राज्य के सात अंग इस प्रकार हैं–(1) स्वामी (राजा), (2) अमात्य (मन्त्री), (3) जन (लोग, प्रजा), (4) दुर्ग (किला), (5) कोश (खजाना), (6) दण्ड (सेना) और (7) मित्र (सहायक)।

दैवीनां मानुषीणाम् आपदाम्–दैवी और मानुषी आपत्तियों का।

विशेष–दैवी विपत्तियों जिन पर मनुष्य का वश नहीं होता और जो प्राकृतिक विपत्तियाँ होती है। ये हैं–आग लग जाना, बाढ़ आना, बीमारी का फैलना, अकाल पड़ना आदि ये विपत्तियाँ दैववश होती हैं। अतः उन्हें दैवी विपत्तियां कहा जाता है। मनुष्यों से आने वाली विपतियाँ मानुषी विपत्तियाँ कहलाती हैं। जैसे–चोरी, डाका, बड़ा भारी राज-कर आदि। इस प्रसंग में नीतिज्ञ कामन्दक आचार्य के वचन देखिए–

हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा।
इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं ततः।
आयुQ्भ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पंचधा मतम्।।

उपर्युQ श्लोक में जहां एक और दिलीप राजा की नम्रता एवं शिष्टता व्यQ होती है वहाँ दूसरी ओर पुरोहित वशिष्ठ की महत्त्वपूर्ण स्थिति भी प्रकट होती है। उसमें राजा की दैवी और मानुषी विपदाओं का निराकरण करने की सामर्थ्य थी। प्राचीनकाल में राजपुरोहितों का विशिष्ट स्थान था। वे विद्वान् नीतिज्ञ तथा मन्त्रों के ज्ञाता होते थे। अतएव राजा उन्हें विशेष सम्मान देते थे और विपत्ति के समय उनसे सहायता लेते थे। वशिष्ठ भी राजा दिलीप के ऐसे ही पुरोहित थे। दिलीप उन्हें अपना परम रक्षक मानते थे।

प्रतिहर्ता–दूर करने वाला। प्रति+धातु हृ+तृच्।

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः H 61H

अन्वयः–तव दूरात् प्रशमितारिभि मन्त्रकृत मन्त्रै मे दृष्टलक्ष्यभिद शराः प्रत्यादिश्यन्त इव।

अनुवादः–मन्त्रों की रचना अथवा प्रयोग करने वाले आप गुरु वशिष्ठ के उन मन्त्रों के कारण, जो दूर से ही (मेरे जाने बिना ही) मेरे शत्रुओं का विनाश कर देते हैं, प्रत्यक्ष लक्ष्य (निशाना) को बींध देने वाले मेरे बाण मानो निरर्थक हैं।

टिप्पणियाँ :–

मन्त्रकृतः–मन्त्रं कृतवान् इति मन्त्रकृत्, तस्य। मन्त्रों की रचना करने वाले वशिष्ठ के (मन्त्रों से) मन्त्र+धातु कृ+क्विप्, तुक् (''सुकर्म्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः'' इस सूत्र से क्विप्)।

दूरात् प्रशमितारिभिः–प्रशमिताः अरयः, तैः प्रशमितारिभिः (बहुव्रीहि) दूरात् तथा।

वे मन्त्र जो दूर से ही शत्रुओं को नष्ट करने की सामर्थ्य रखते हैं। दूर से ही नष्ट कर दिए हैं शत्रु जिन्होंने, ऐसे मन्त्रों से।

प्रत्यादिश्यन्ते–प्रति+आ+धातु दिश्+कर्मणि लट्, अन्य पुरुष; तिरस्कृत, पराजित हो जाते हैं।

दृष्टम्–(दृश्+Q) दृष्टं च तत् लक्ष्यम् इति दृष्टलक्ष्यम् (कर्मधारय), दृष्टलक्ष्यं भिन्दन्ति इति दृष्टलक्ष्यभिदः (उपपद तत्पुरुष)। **''शराः''** का विशेषण। (मेरे वे तीर) जो केवल दिखाई देने वाले लक्ष्य को ही बींध सकते हैं (परन्तु वशिष्ठ के मन्त्र अदृश्य लक्ष्य को भी नष्ट कर सकते हैं)।

विशेष–प्रस्तुत श्लोक में द्वितीय वशिष्ठ की महिमा का बखान कर रहे हैं। राजा के बाण तो केवल ऐसे ही लक्ष्य को बींध सकते हैं जो आँखों से देखा जा सके या जिसका शब्द कानों से सुना जा सके। परन्तु वशिष्ठ के मन्त्र अद्भुत वर्चस्वयुQ हैं। उनकी इस दिव्यशQ के कारण राजा के तीर व्यर्थ-से हो गए हैं क्योंकि शत्रु-नाश का जो कार्य राजा के तीर करते हैं वह वशिष्ठ ऋषि के मन्त्र ही परोक्ष में कर देते हैं। अतः राजा को शत्रुओं के नाश के लिए अपने धनुष पर बाण ही नहीं चढ़ाना पड़ता। इस प्रकार वशिष्ठ के मन्त्रों की शQ के कारण दिलीप के बाण जैसे व्यर्थ बन गए हैं।

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् H 62H

अन्वयः–होतः, त्वया विधिवत् अग्निषु आवर्जितं हविः अवग्रहविशोषिणाम् सस्यानां वृष्टिः भवति।

अनुवादः–हे हवन करने वाले मेरे गुरु ! आपके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञाग्नि में डाली हुई (घी) आहुति अवग्रह (सूखा, वर्षा का अभाव) के कारण सूखने वाले अन्न के लिए वृष्टि (वर्षा) रूप हो जाती है।

टिप्पणियाँ :–

होतः–धातु हु+तृच्–होतृ (हवन करने वाला) शब्द का सम्बोधन में एकवचन हे यज्ञ करने वाले गुरु।

आवर्जितम्–आ उपसर्ग+धातु वृज्+णिच् +Q।

अवग्रह– अव+धातु ग्रह्+अप्। विशेषिणां=वि+शुष्+णिनि। अवग्रहेण (सूखा, अकाल) विशोषितुं शीलम् एषाम् इति अवग्रह विशोषिणः (उपपद तत्पुरुष समास) तेषाम्। 'सस्यानां' का विशेषण। वह खेती जो सूखा (वर्षा के अभाव) के कारण सूख रही है।

विशेष–यह माना जाता है कि अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य में चली जाती है और वह फिर बादल बनकर जल के रूप में पृथ्वी पर बरसती है। देखिए–

''अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।'' (मनुस्मृति)

देखें गीता–''यज्ञाद्भवति पर्जन्यः।''

दिलीप के हितैषी वशिष्ठ ऋषि निरन्तर यज्ञ करते रहते हैं अत: उनके राज्य में अकाल का कोई भय नहीं है। इस प्रकार दैवी आपत्ति से वह सदा बचा रहता है।

पुरुषायुषजीविन्यो निरातंका निरीतयः।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् H 63H

अन्वयः—मदीयाः प्रजाः यान् पुरुषायुषजीविन्यः निरात√ा निरीतयः, तस्य त्वद् ब्रह्मवर्चस हेतुः।

अनुवादः—मेरी प्रजाएँ जो मनुष्य की पूर्ण आयु तक जीने वाली होती हैं, निर्भय रहती हैं एवं अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि उपद्रवों से बची रहती हैं, इन सबका कारण आपका ब्रह्मतेज ही है।

टिप्पणियाँ :—

मदीयाः—अस्मद्+छ

पुरुषायुष—पुरुषस्य आयुः पुरुषायुषं (पुरुषायुस्+अच्), पुरुषायुषं जीवन्ति इति पुरुषायुषजीविन्यः, पुरुषायुष+जीव+णिनि। प्रजा का विशेषण। वह प्रजा जो पुरुष को पूरी अर्थात् सौ साल तक जीती है। पुरुष की आयु सौ साल तक मानी गई है, "**शतायुर्वै पुरुषः।**" दिलीप के राज्य में लोग अपनी पूर्णायु भोगकर मरते हैं, किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती है।

निरीतयः—निर्गताः ईतिभ्यः इति निरीतयः (प्रादि समास), आतंको से रहित। प्रजाः का विशेषण। छह प्रकार की ईतियां (आतंक) मानी गई हैं: (1) अतिवृष्टि (अत्यधिक वर्षा जिससे बाढ़ आकर खेत बह जाएँ), (2) अनावृष्टि (वर्षा का अभाव, सूखा), (3) मूषिका (चूहों से डर), (4) शलभाः (टिöयों से खेती का नाश), (5) शुकाः (तोते आदि पक्षियों से अन्न तथा फलों की हानि) (6) प्रत्यासन्नाश्च राजानः (हमला करने को तैयार पड़ोसी सीमावर्ती राजा) ये छः ईतियों मानी गई हैं। देखिए नीतिज्ञ कामन्दक आचार्य के वचन—

"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः।।

ब्रह्मवर्चस्—ब्रह्मणः वर्चः ब्रह्मवर्चसम्, ब्रह्मतेज।

प्रस्तुत श्लोक में उपर्युQ 60 वें श्लोक के विचार को ही विशद रूप में प्रकट किया है। ऋषि वशिष्ठ के मन्त्रों के बल से न केवल दिलीप राजा शत्रुओं से निश्चिन्त हैं अपितु अन्य आपदाओं जैसे अतिवृष्टि आदि से उनका राज्य सुरक्षित है।

त्वयैव चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः H 64H

अन्वयः—ब्रह्मयोनिना गुरुणा त्वया एव चिन्त्यमानस्य निरापदः मे सम्पदः सानुबन्धाः कथं न स्युः।

अनुवादः—ब्रह्मा से जन्म लेने वाले आप जैसे गुरु मेरी इस प्रकार देखभाल करने के कारण (और इसी कारण से) विपत्तियों से मुQ हुई मेरी (मुझ दिलीप की) सम्पतियाँ सदा अविच्छिन्न (निरन्तर) क्यों न बनी रहेंगी।

टिप्पणियाँ :—

ब्रह्मयोनिना—ब्रह्मा योनिः यस्य सः (बहुव्रीहि) तेन, जिसका जन्म ब्रह्मा से है। ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में से एक वसिष्ठ हैं।

चिन्त्यमानस्य—चिन्त्+कर्मणि शानच्, षष्ठी विभQ, एकवचन। (मेरी) देखभाल किये जाने पर। आप जब मेरा ध्यान रखने वाले हैं।

सानुबन्धाः–अनुबन्ध्यते इति अनुबन्धः, अनु+बन्ध्+घञ्। अनुबन्धेन (अविच्छिन्न) सह वर्तमाना इति सानु-बन्धाः, (बहुव्रीहि)। निरन्तर बने रहने वाली, 'संपदः' का विशेषण। मेरी सम्पत्तियाँ अविच्छिन्न क्यों न बनी रहें (जब ब्रह्मा के पुत्र आप जैसे गुरु मेरी परवाह करते हैं)।

स्युः–अस्+लिङ्, अन्यपुरुष, बहुवचन हों।

निरापदः–निर्गताः आपद् यस्मात् स निरापद् तस्य (बहुव्रीहि); 'मे' का विशेषण। आपत्तियों से रहित।

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी H 65H

अन्वयः–किन्तु तव एतस्यां वध्वां अदृष्टसदृशप्रजम् मां सद्वीपा रत्नसूः अपि मेदिनी न अवति।

अनुवादः–तथापि आपकी इस वधू सुदक्षिणा से अनुरूप (योग्य) पुत्र न पाने के कारण मुझको द्वीपों से युQ तथा (समस्त) रत्नों को उत्पन्न करने वाली यह (विशाल) पृथ्वी भी सन्तुष्ट नहीं करती (कर पाती) है।

टिप्पणियाँ :–

अदृष्ट–न दृष्ट अदृष्टा (नञ् तत्पुरुष), सदृशी प्रजा इति सदृशप्रजा (कर्मधारय), अदृष्टा सदृशप्रजा येन स अदृष्टसदृशप्रजः (बहुव्रीहि), तम्। वह जिसने अपने योग्य सन्तान को नहीं देखा है : मुझे, दिलीप को, जिसे योग्य अनुकूल पुत्र प्राप्त नहीं हुआ।

विशेषः–हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार जन्म लेने के पश्चात् मनुष्य को तीन ऋण चुकाने होते हैं। (1) ऋषि ऋण (ऋषि के प्रति ऋण), (2) देव ऋण (देवताओं के प्रति ऋण), (3) पितृ ऋण (पिता के प्रति ऋण)। पितृ ऋण को 'अन्त्य ऋण' भी कहते हैं। अर्थात् पितरों के प्रति ऋण सबसे अन्तिम ऋण है जिसे चुकाने के बाद अन्य कोई ऋण सिर पर नहीं रहता और मनुष्य ऋणमुQ हो जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद जब मनुष्य विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है तब विधि-परिणीता पत्नी से पुत्र के जन्म लेने के पश्चात् वह पितृऋण से मुQ होता है क्योंकि पुत्र के जन्म लेने से वंश की परम्परा अविच्छिन होकर आगे चलती है। पितरों को पिण्डदान मिलता रहता है तथा उनके प्रति कुल के पुरुष का कर्त्तव्य पूरा हो जाता है।

अवति–धातु अव्+लट्, अन्य पुरुष, एकवचन अच्छी लगती है। प्रसन्न करती है।

विशेष–अव् धातु के अनेक अर्थ हैं–रक्षा करना, चलना, मन को अच्छा लगना आदि। यहाँ अव् ध ातु 'प्रीणन' (मन को भाना) के अर्थ में है।

तव वध्वाम्–तुम्हारी पुत्रवधू अर्थात् सुदक्षिणा में।

रत्नसूः–रत्नानि सूयते इति–जो रत्नों को देती है। 'पृथ्वी' का विशेषण. बहुमूल्य उत्तम रत्नों को देने वाली पृथ्वी भी मुझे पुत्र के अभाव में प्रसन्न नहीं करती है। सब रत्नों से पुत्ररत्न ही श्रेष्ठ है। पृथ्वीविषयक यह विचार काफी प्रचलित है। देखिए-''**स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी॥**'' (किरातार्नुनीयम्, प्रथमसर्ग)

मेदिनी–पृथ्वी। मेदः अस्या अस्ति इति मेदिनी। विष्णु द्वारा मधु-कैटभ के वध के समय सम्पूर्ण पृथ्वी उनके मेद एवं माँस से भर गई थी अतः पृथ्वी का मेदिनी नाम पड़ा। देखिए–'मधुकैटभयोस्त्वासन्मिदमांसपरिप्लुता। तेनेयं मेदिनी देवी प्रोच्यते ब्रह्मवादिभिः।'

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः H 66H

अन्वयः–नूनं मत्तः परं पिण्डविच्छेददर्शिनः स्वधासंग्रहतत्पराः श्राद्धे प्रकामभुजः न (सन्ति)।

अनुवादः–मेरे पश्चात् पुत्र के अभाव में पिण्ड के लोप (विच्छेद) की आशV्ा करके पितर (वंश्य) श्राद्ध के अवसर पर स्वधा (पितरों का भोजन) संग्रह करने में लगे हुए निश्चय ही तृप्त होकर भोजन नहीं करते हैं।

टिप्पणियाँ :

मत्तः–(परम) अस्मद्, पञ्चमी विभ्ि एकवचन, तसिल् प्रत्यय (पंचमी के अर्थ में) 'पञ्चम्याः तसिल्' मेरे पश्चात् अर्थात् मेरी मृत्यु के पश्चात्।

वंश्याः–वंशे भवाः–पूर्वज, वे जो वंश में पूर्व उत्पन्न हुए थे पर मर गये अर्थात् पितर।

स्वधाः–स्वधायाः संग्रह (षष्ठी तत्पुरुष) स्वधासंग्रहः, तत् परं (प्रधानं) येषां ते (पितरः)। स्वधा नामक अपने भोज्य पदार्थ का संग्रह करने में लगे हुए (मेरे) पितर।

विशेष–'स्वाहा' तथा 'स्वधा' वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण देवताओं तथा पितरों को आहुति अर्पण करते हुए किया जाता है। जैसे–'अग्नये स्वाहा'। स्वाहा का प्रयोग देवताओं के लिए स्वधा का प्रयोग पितरों के लिए किया जाता है। परन्तु देवताओं तथा पितरों को अर्पित किये जाने वाले हविष्य को भी क्रमशः स्वाहा तथा स्वधा कहते हैं। इस प्रकार स्वाहा और स्वधा देवताओं तथा पितरों के भोजन का भी नाम है और उन्हें भोजन (हविष्य) अर्पण करते समय उनके प्रति किए गए सम्बोधन भी हैं। पितर यमलोक में निवास करते हैं जिसे पितृलोक भी कहते हैं यम पितरों का स्वामी हैं और उसे पितृपति कहते हैं। पितृलोक में रहने वाले पितरों का भोजन 'स्वधा' है। अतएव पितर इस बात के इच्छुक रहते हैं कि उन्हें निरन्तर अविच्छिन्न रूप में अपना भोजन (स्वधा) प्राप्त होता रहे परन्तु स्वधा की प्राप्ति तभी सम्भव है जब उसके कुल में वंशध र पुत्रों की सन्तति चलती रहे। दिलीप तक आकर यह सन्तति टूटती प्रतीत हो रही है क्योंकि वंश को चलाने वाले तथा उनके पितरों को भोजन देने का अधिकारी पुत्र उसे सुदक्षिणा से प्राप्त नहीं हुआ है। इसी कारण दिलीप अपने पितरों को जब स्वधा (भोजन) अर्पण करता है वे तो उसे पेट भरकर नहीं खाते प्रत्युत भविष्य के लिए जोड़कर रखते हैं। जैसे निर्धन मनुष्य उपलब्ध धन को व्यय न कर भविष्य के लिए संग्रह करके रख छोड़ते हैं। पितर जानते हैं कि दिलीप के पश्चात् उन्हें स्वधा प्राप्त नहीं होगा। अतः जो मिलता है उसे भविष्य के लिए बचाकर रखते हैं। पितरों के इस मानसिक दुःख का विचार करके ही दिलीप पुत्र-प्राप्ति की कामना से अपने कुलगुरु वशिष्ठ जी के पास आए।

कालिदास ने अपनी कृतियों में पितरों की इस चिन्ता का कई बार उल्लेख किया है। देखिए–

''अस्मात् परं .... वत पितरः पिबन्ति।'' (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6.25)।

इस प्रकार के निर्देशों के आधार पर विद्वान् मानते हैं कि सम्भवतः कालिदास स्वयं पुत्रहीन थे। इसीलिए पुत्र के अभाव का कष्ट उनके काव्य में यत्र-तत्र प्रस्फुटित हुआ दिखाई देता है।

पिण्ड–पिण्डस्य विच्छेदः इति (षष्ठी तत्पुरुष), पिण्डविच्छेदं पश्यन्ति इति पिण्डविच्छेददर्शिनः। 'वंश्याः' (पितरः) का विशेषण। वे पितर जो पिण्डदान के विच्छेद को देख रहे हैं अर्थात् जो इस बात से आशंकित एवं दुःखी हैं कि भविष्य में उन्हें पिण्डदान देने वाला नहीं है। देखिए–**''पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।''** (गीता 1.41)

पिण्ड–यह भात का बना गोल लोंदा होता है जिसे श्राद्ध करते समय पितरों को उनके भोजन के रूप में अर्पित किया जाता है।

प्रकामभुजः–प्रकाम (खूब) भोQ शीलं येषां ते–पेट भरकर खाने वाले, 'वंश्याः' का विशेषण। 'काम' 'प्रकाम' शब्द का अर्थ है–पर्याप्त, खूब जी भरकर।

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते H 67H

अन्वयः–मत्परं दुर्लभं मत्वा मया आवर्जितं पय पूर्वैं स्वनिःश्वासैः कवोष्णम् उपभुज्यते नूनम्।

अनुवादः–मेरे पश्चात् पुत्र न होने से दुर्लभ समझकर आजकल मेरे द्वारा किए गए तर्पण जल को (मेरे) पितर अपने दुःख भरे निःश्वासों से कुछ गर्म करके पीते हैं (इसमें कोई सन्देह नहीं है)।

टिप्पणियाँ :–

पूर्वैः–पितरों के द्वारा, आवर्जितम्–दिया हुआ (आ+धातु वृज्+Q)।

स्वनिःश्वासैः–अपने साँसों से। वे यह सोचकर श्वास छोड़ते है कि उनको मालूम है कि दिलीप के पश्चात् उन्हें तर्पण देने वाला कोई नहीं होगा।

कवोष्णम्–ईषद् उष्णमिति कवोष्णम्–कुछ गर्म।

दुर्लभम्–दुःखेन लब्धुं शक्यम् दुर्लभम् (दुर्+धातु लभ्+खल्)

उपभुज्यते–उप+धातु भुज्+कर्मणि लट्।

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः H 68H

अन्वयः–इज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः सः अहम् लोकालोकः अचलः इव प्रकाशश्च अप्रकाशश्च।

अनुवादः–यज्ञ आदि करने से मैं देवऋण से मुQ होने के कारण प्रसन्नचित्त अथवा पुत्र के अभाव में पितृऋण से मुQ होने के कारण मलिनचित्त (उद्विग्न) हूँ। अतः मेरी दशा लोकालोक पर्वत के समान है जिसके एक ओर प्रकाश तथा दूसरी ओर अन्धकार रहता है।

टिप्पणियाँ :–

इज्याविशुद्धात्मा–विशुद्धः आत्मा यस्य स विशुद्धात्मा (बहुव्रीहि) इज्यया विशुद्धात्मा इति (तृतीया तत्पुरुष); यज्ञों के करने से शुद्ध है आत्मा जिसकी, ऐसा मैं दिलीप। इज्या=यज्ञ (धातु यज्+क्यप्+टाप्)

''यज्ञदानतः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।'' (गीता 18.5)

प्रजालोपनिमीलितः–प्रजायाः लोपः इति प्रजालोपः (षष्ठी तत्पुरुष)। प्रजालोपेन निमीलितः प्रजालोपनिमीलितः (तृतीया तत्पुरुष) सन्तान के न होने से मलिन (उदास)।

लोकालोकः अचलः–चक्रवाल नामक पर्वत। लोक्यते इति लोकः, न लोक्यते इति अलोकः लोकश्चासौ अलोकश्च इति लोकालोकः–वह पर्वत जिसके एक ओर प्रकाश तथा दूसरी ओर अन्धकार रहता है।

विशेषः–पुराणों के अनुसार लोकालोक उस पर्वतमाला का नाम है जो दीवार की तरह पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है। इसके गोलाकार घेरे में सूर्य तथा अन्य नक्षत्र घूमते है। जिससे पर्वतमाला का आभ्यन्तर भाग प्रकाश के परिपूर्ण तथा बाह्य भाग अन्धकार से आच्छन्न रहता है। राजा दिलीप भी लोकालोक पर्वत

के समान है क्योंकि यज्ञ आदि के करने से वह पवित्र तथा प्रकाशमान हैं परन्तु पुत्र के अभाव से वह दु:ख रूपी अन्धकार से मलिन हैं। अत: राजा की लोकालोक पर्वत से तुलना उपयु़ है।

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।

सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे H 69H

अन्वय:–तपोदानसमुद्भवं पुण्यं लोकान्तरसुखं (भवति), शुद्धवंश्या सन्तति: हि परत्र इह च लोके शर्मणे (भवति)।

अनुवाद:–जो पुण्य तप अथवा दान से उत्पन्न होता है वह केवल परलोक में ही सुख देता है। परन्तु शुद्धवंश में उत्पन्न पुत्र (सन्तान) तो इस लोक में तथा परलोक में भी सुख पहुँचाता है।

टिप्पणियाँ :–

तपोदानसमुद्भवम्–तपश्च दानं च इति तपोदाने (द्वन्द्व समास) समुद्भवति अस्मात् इति समुद्भव: (कारण), सम्+उत्+धातु भू+अप्। तपोदाने समुद्भवो यस्य तत् तपोदानसमुद्भवम् (बहुव्रीहि), 'पुण्य' का विशेषण। तप और दान से जो उत्पन्न होता है ऐसा पुण्य।

शुद्धवंश्या–शुद्धश्चासौ वंशश्च इति शुद्धवंश: (कर्मधारय), शुद्धवंशे भवा इति शुद्धवंश्या। शुद्ध वंश में उत्पन्न होने वाली 'सन्तति' का विशेषण। दूसरी पं़ का अन्वय ध्यानपूर्वक देखिए–'शुद्धवंश्या सन्तति: हि परत्र इह च (लोके) शर्मणे भवति'।

परत्र–परलोक में, इह च–और इस भूलोक में भी।

विशेष–इस संसार में मनुष्य तप-दान आदि के द्वारा जो पुण्य का उपार्जन करता है उससे उसे परलोक में स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है। परन्तु योग्य पुत्र से उसे इस लोक में (बुढ़ापे में पिता की सेवा करना आदि) तो सुख मिलता ही है परन्तु परलोक में भी पुत्र द्वारा अर्पित किए हुए पिण्डदान तथा स्वधा के मिलने से उसे सुख प्राप्त होता है। इसलिए कहा गया है कि शुद्धवंश की सन्तान पिता को इहलोक तथा परलोक दोनों में सुख देती है।

शर्मणे–शर्मन् शब्द का चतुर्थी विभ़ में एकवचन, सुख के लिए। 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' से चतुर्थी विभक्ति

तया हीनं विधातः मां कथं पश्यन्न दूयसे।

सि़ं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् H 70H

अन्वय:–विधात: ! तया हीन मां स्नेहात् स्वयमिव सि़म् वन्ध्यम् आश्रमवृक्षकम् इव पश्यन् कथम् न दूयसे?

अनुवाद:–हे नियमों के रचयिता गुरु, जिस प्रकार स्वयं प्रेमपूर्वक जल से सींचकर बढ़ाए हुए आश्रम के वृक्षों को फल से शून्य देखकर आपका दु:खी होना स्वाभाविक है उसी प्रकार आपके शिष्य मुझको भी पुत्र से रहित देखते हुए आप दु:खी क्यों नहीं होते?

टिप्पणियाँ :–

विधात:–'विधात' शब्द का सम्बोधन एकवचन, हे नियामक, हे निर्माता गुरु जी ! यह वशिष्ठ ऋषि का राजा द्वारा किया गया सम्बोधन है। वशिष्ठ के लिए 'विधातृ' सम्बोधन का प्रयोग इसलिए किया गया है कि ब्रह्मा की सन्तान होने के कारण महर्षि वशिष्ठ जी राजा को पुत्र-प्राप्ति करवाने में सहायक हो सकते हैं।

दूयसे–धातु दू+लट्, मध्यम पुरुष, एकवचन, आप दु:खी होते हैं, पीड़ित होते हैं।

आश्रमवृक्षकम्–अनुकम्पनीयो वृक्षः इति वृक्षकः, आश्रमस्य वृक्षकः इति आश्रमवृक्षकः (षष्ठी तत्पुरुष तम्।

पश्यन्–धातु दृश्+शतृ प्रत्यय, देखते हुए।

स्नेहात्–प्रेम्णा, प्रेम से। हेतौ पञ्चमी।

सिQम्–धातु सिञ्च्+Q, सींचे हुए।

बन्ध्यम्–धातु बन्ध्+यक्, निष्फल, अफल।

स्नेहात्–प्रेम से। हेतु के कारण पञ्चमी।

पाठ 5

रघुवंश महाकाव्य (प्रथम सर्ग): मूल, अनुवाद तथा टिप्पणियां

(पाठ चार से आगे का भाग)

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।

अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः H 71H

अन्वयः–भगवन् अनिर्वाणस्य दन्तिनः अरुन्तुदम् आलानम् इव मे अन्त्यम् ऋणम् असह्यपीडम् अवेहि।

अनुवादः–हे भगवान् ! मेरे इस अन्तिम पैतृक ऋण को इस प्रकार (मेरे लिए) दु:सह (दुखदायी) समझो जिस प्रकार न नहलाए हुए हाथी को उसके मर्मस्थल को बींधने वाला, (उसको) बाँधने का खूँटा असह्य पीड़ा पहुंचाता है।

टिप्पणियाँ :–

असह्यपीडम्–असह्या (सोढुम् अशक्या) पीडा यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। अत्यधिक कष्टदायक। ऐसा कष्ट जो सहन नहीं किया जा सकता।

अवेहि–अव उपसर्ग+धातु इ+लोट्, मध्यम पुरुष एकवचन। तुम समझो। आप जानो।

अरुन्तुदम्–(मर्मस्थल) तुदति इति (अरुम्+तुद्+खश्)। मर्मस्थल को काटने वाला, हृदय आदि कोमल स्थानों को बींधने वाला। 'आलानम्' का विशेषण।

आलानम्–वह दृढ़ स्तम्भ जिसके साथ हाथी को बांधा जाता है। गजबन्धन-स्तम्भ। वस्तुत: यह वह स्तम्भ है जो हाथी को पीड़ा पहुंचाता है। क्योंकि गले में यदि रस्सी पड़ी भी हो तो भी हाथी के स्नान करने में बाधा नहीं पहुंच सकती किन्तु वह दृढ़ स्तम्भ से बाँधा गया हो तो वह स्नान नहीं कर सकता। इसके अतिरिQ महाकवि यहां महाराज दिलीप की मनोव्यथा व्यQ करना चाहता है, शारीरिक व्यथा नहीं। अत: हाथी की-सी मनोव्यथा का ही उल्लेख आवश्यक है। स्तम्भ हाथी की मनोव्यथा का कारण है जबकि रस्सी शारीरिक व्यथा ही देती है।

अनिर्वाणस्य–न अस्ति निर्वाणं यस्य (बहुव्रीहि) असौ, अनिर्वाण:, तस्य। वह हाथी जिसने स्नान नहीं किया है। 'दन्ति:' का विशेषण। निर्वाण का अर्थ है–गज का स्नान। देखिए–**'निर्वाणं निर्वृतौ विनाशे गजमज्जने'** इति यादव:।

दन्तिनः–दन्त+इनि, षष्ठी एकवचन।

इसी तरह के भाव की अभिव्यंजना कही और भी हुई है–**'सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः।'**

तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि ।

इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः H 72H

अन्वयः–तात ! तस्मात् यथा मुच्ये तथा संविधातुम् अर्हसि, हि इक्ष्वाकूणां दुरापे अर्थे सिद्धयः त्वदधीनाः।

अनुवादः–हे गुरु ! अतएव जिससे कि मैं उस (पितृऋण) से मुQ हो सकूं ऐसा उपाय आप करें क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के कठिन कार्यों की सिद्धियाँ (सफलताएँ) आपके अधीन हैं।

टिप्पणियाँ :–

तस्मात्–उससे, पैतृक ऋण से।

यथा–येन उपायेन, जिस तरह से।

तथा–तम् उपायम्, उसी तरह।

संविधातुम्–कर्त्तुम्, करना।

अर्हसि–योग्योऽसि, आपको (करना) चाहिए।

मुच्ये–धातु मुच्+कर्मणि लट्, उत्तम पुरुष एकवचन। छुटकारा पाऊँ, मुQ होऊँ। यहाँ लट् का प्रयोग विधि के अर्थ में हुआ है।

दुरापे–(अर्थे) उन विषयों या कार्यों के बारे में जिनको प्राप्त करना कठिन है अर्थात् दुस्साध्य कार्यों के विषय। दु:+खल्, सप्तमी एकवचन। इसी तरह के भाव की अभिव्यंजना कहीं और भी हुई है–''सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्र:।''

त्वदधीना:–त्वयि अधि इति त्वदधीना: (सप्तमी तत्पुरुष)। आपके अधीन हैं।

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचन: ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रद: H 73H

अन्वय:–इति राज्ञा विज्ञापित: ऋषि: ध्यानस्तिमितलोचन: क्षणमात्रं सुप्तमीन: ह्रद इव तस्थौ।

अनुवाद:–इस प्रकार राजा द्वारा निवेदन किए जाने पर महर्षि वशिष्ठ, मछलियों के सो जाने पर शान्त हुए सरोवर की भांति, क्षणभर के लिए ध्यान में नेत्र बन्द कर निश्चल हो गए।

टिप्पणियाँ :–

इति–इस प्रकार से, पूर्वोQ प्रकार से।

विज्ञापित:–वि उपसर्ग+धातु ज्ञा+णिच् (पुक्)+Q। (इस प्रकार) सूचित किया गया। 'ऋषि' का विशेषण है। **ध्यान**–ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य स: (बहुव्रीहि). ध्यान के कारण निश्चल (स्थिर-स्तिमित) हैं नेत्र जिसके ऐसा ऋषि।

विशेष–प्रस्तुत श्लोक में वशिष्ठ ऋषि की तुलना शान्त जल वाले सरोवर से की गई है जिसमें मछलियों सो रही हैं। मछलियों के चलने से सरोवर का जल चंचल और उद्वेलित हो जाता है। पर जब मछलियाँ सो रही हो तो सरोवर शान्त रहता है। ध्यान की अवस्था में वशिष्ठ ऋषि का मन भी इस प्रकार शान्त तथा स्थिर था जिस प्रकार मछलियों के सो जाने पर सरोवर का जल शान्त रहता है। संस्कृत साहित्य में नेत्रों की तुलना मछली से की जाती है तथा स्थिर जल वाला सरोवर शान्त मन का उपयुQ उपमान माना जाता है। अत: प्रस्तुत स्थल में आँखें मूंदकर ध्यान करते हुए वशिष्ठ की प्रस्तुत-मौन सरोवर से तुलना करना अत्यधिक उपयुQ है। उचित उपमा का यह सुन्दर उदाहरण है। महाकवि कालिदास की उपमा की यह विशेषता है कि वे अपने काव्य में जीवन से सम्बन्ध रखने वाले साधारण, जाने-पहचाने पदार्थों में से उपमानों को चुनते हैं। प्रासंगिक अनुकूलता ही उनकी उपमाओं की सबसे बड़ी विशिष्टता है।

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन सन्ततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् H 74H

अन्वयः–भावितात्मा सः प्रणिधानेन भुवः भर्तुः सन्ततेः स्तम्भकारणम् अपश्यत् अथ एनं प्रत्यबोधयत्।

अनुवादः–महर्षि वशिष्ठ समाधि द्वारा शुद्ध चित्त होकर पृथ्वी के स्वामी दिलीप की सन्तान के न होने का कारण जाने गये और फिर उसे इस प्रकार कहने लगे।

टिप्पणियाँ :–

भावितात्मा–भावित: आत्मा यस्य स: (बहुव्रीहि), ऋषि का विशेषण। (वह ऋषि) जिसका अन्तःकरण ध्यान के कारण शुद्ध है। भावय् का अर्थ है अशुद्धताओं से मुQ शुद्धचित्त ऋषि। भावित=शुद्ध, आत्मा=हृदय, शुद्ध हृदय।

प्रत्यबोधयत्–प्रति+धातु बुध्+णिच्+लङ्, अन्य पुरुष, एकवचन, सूचित किया (दिलीप को) बताया, कहा।

प्रणिधानेन–एकाग्र मन द्वारा, ध्यान द्वारा, । प्र+नि+धातु धा+ल्युट्–तृतीया (एकवचन)। सूत्र है करणे तृतीया (अर्थात् करण या साधन में तृतीया का प्रयोग होता है)।

सन्ततेः–सम्+धातु तन्+Qन् षष्ठी एकवचन। सन्तति अर्थात् सन्तान का (स्तम्भ कारण)

स्तम्भकारणम्–स्तम्भ्+घञ्, स्तम्भस्य कारणमिति स्तम्भकारणम् षष्ठी तत्पुरुष)। (राजा की सन्तान के) स्तम्भन (अवरोध) का कारण।

एनम्–गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ शब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्त्ता स णौ से द्वितीया। यहाँ प्रत्यबोधयत् 'बुद्ध्यर्थक' धातु है।

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रतियास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि H 75H

अन्वयः–पुरा शक्रम् उपस्थाय उर्वीं प्रति यास्यतः तव पथि कल्पतरुच्छायाम् आश्रिता सुरभिः आसीत्।

अनुवादः–हे राजन् ! एक बार पूर्वकाल में जब आप इन्द्र की सेवा करके पृथ्वी की ओर लौट रहे थे तब मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया में कामधेनु बैठी हुई थी।

टिप्पणियाँ :–

उपस्थाय–उप+धातु स्था+ल्यप्, सेवा करने के अनन्तर, पश्चात्।

(प्रति) यास्यतः–(प्रति) धातु या+लृट्+शतृ, षष्ठी विभQ, एकवचन। जब आप लौट रहे थे। अर्थात् इन्द्र की सेवा करके जब आप (महाराज दिलीप) पृथ्वी की ओर लौट रहे थे।

शक्रः–इन्द्र।

सुरभिः–कामधेनु, देवताओं की गौ जो कामनाओं को पूर्ण करती है।

कल्पतरुच्छायाम्–कल्पस्य तरु: इति कल्पतरु:, कल्पतरोः छायाम् (षष्ठी तत्पुरुष) कल्पतरुच्छायाम्। कल्पतरु अथवा कल्पवृक्ष की छाया में। कल्पवृक्ष मनोकामना पूर्ण करने में समर्थ है। कल्प का अर्थ है 'संकल्पित अर्थ' अर्थात् वांछित अर्थ। कल्पतरु के पश्चात् 'ह्रेच' इस सूत्र से 'तुक् (च)' आगम होकर 'कल्पतरुच्छायाम्' बनता है।

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणीक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचर H 76H

अन्वयः–ऋतुस्नाताम् इमां राज्ञीं धर्मलोपभयात् स्मरन् प्रदक्षिणिक्रियार्हायां तस्यां (धेनौ) त्वं साधु नाचर।

अनुवादः–(ऋतुकाल में अभिगमन न होने से कहीं) धर्म का लोप (व्याघात) न हो जाए इस भय से ऋतुस्नान की हुई इस रानी (सुदक्षिणा) का ही केवल ध्यान करते हुए तुमने प्रदक्षिणा के द्वारा सत्कार करने योग्य (मार्ग में बैठी) कामधेनु का उचित सत्कार नहीं किया।

टिप्पणियाँ :–

धर्मलोपभयात्–धर्मस्य लोपः धर्मलोपः, धर्मलोपात् भयम् इति धर्मलोपभयम्, तस्मात्। धर्म (कर्त्तव्य) की उपेक्षा के भय से। अकरणे प्रत्यवायः।

विशेष–पत्नी का यह वैवाहिक अधिकार है कि उसके ऋतु स्नान कर लेने के पश्चात् उसका पति सहवास के लिए उसके पास जाए। अतएव राजा दिलीप पृथ्वी पर लौटने के लिए अत्यन्त उत्सुक था क्योंकि वह ऋतुस्नान कर चुकी सुदक्षिणा के प्रति पति के रूप में अपना कर्त्तव्य पूरा न कर दोषी नहीं बनना चाहता था। अतएव यात्रा करते समय सुदक्षिणा के प्रति अपने कर्त्तव्य को स्मरण करते हुए उसने मार्ग में उपस्थित कामधेनु की ओर ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार अनवधानता के कारण उसके द्वारा पूज्या कामधेनु का अपमान हो गया। शास्त्र में ऋतुकाल के तुरन्त बाद में पत्नी से अभिगमन न करना पति के लिए बड़ा दोष माना जाता है।

देखिए–

'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां स्वस्थः सन्नोपगच्छति।
बालगोध्नापराधेन विद्यते नात्र संशयः।।' –पराशर

ऋतुस्नाताम्–ऋतुना स्नाताम् इति। ऋतुस्नाताम् रजोदर्शनादूर्ध्वं चतुर्थे दिने स्नात्वा पतिसमागमं अपेक्षमाणाम्। (महारानी सुदक्षिणा) जिसने रज का प्रस्रवण होने के पश्चात् शुद्धि का स्नान कर लिया है।

प्रदक्षिणा–प्रगतं दक्षिणं इति प्रदक्षिणं (प्रादिसमास), प्रदक्षिणस्य क्रिया इति प्रदक्षिणीक्रिया, प्रदक्षिणाक्रियायाः अर्हा तस्याः। कामधेनु का विशेषण। यह कामधेनु जो प्रदक्षिणा (आदर प्रदर्शन के लिए देवमूर्त्ति या पूज्यजनों के चारों ओर परिक्रमा करना) रूप सत्कार करने योग्य थी।

नाचरः–न+आ+धातु चर्+लङ् मध्यम पुरुष, एकवचन (तुमने उसका प्रदक्षिणादि से सम्मान) नहीं किया।

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा H 77H

अन्वयः–यस्मात् मां अवजानासि अतः मत्प्रसूतिम् अनाराध्य ते प्रजा न भविष्यति इति सा शशाप।

अनुवादः–क्योंकि तुम (परिक्रमा आदि समुचित सत्कार न करने से) मेरा तिरस्कार कर रहे हो, अतः मेरी सन्तान की आराधना किए बिना तुम्हारे सन्तान न होगी, ऐसा उसने (कामधेनु ने) तुम्हें शाप दिया।

टिप्पणियाँ :–

अवजानासि–अव+धातु ज्ञा+लट्, मध्यम पुरुष, एकवचन। (तुम) अनादर या तिरस्कार करते हो।

प्रसूति–प्र+धातु सू+ि न्।

अनाराध्य–अन (नञ्)+आ+धातु राध्+ल्यप्। आराधना (सेवा, पूजा) किए बिना अर्थात् उसे प्रसन्न किए बिना।

प्रजा–सन्तति, प्र+धातु जन्+ड+टाप्।

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः ।
नदत्याकाशगङ्गाया स्रोतस्युद्दामदिग्गजे H 78H

अन्वयः–राजन् ! उद्दामदिग्गजे आकाशगंगायाः स्रोतसि नदति (सति) स शापः न त्वया न च सारथिना श्रुतः।

अनुवादः–हे राजन्, कामधेनु का दिया हुआ वह शाप न तो तुमने और व ही तुम्हारे सारथि ने सुना क्योंकि बन्धन से मुQ (रोकर गंगा के जल-प्रवाह में स्नान के लिए आए) दिग्गजों से युQ आकाश-गंगा का जल-प्रवाह कोलाहल कर रहा था।

टिप्पणियाँ :–

प्रस्तुत श्लोक की दूसरी पंQ की रचना ध्यान देने योग्य है।

उद्दामदिग्गजे आकाशगंगाः स्रोतसि नदति (सति)

यहां 'भावे सप्तमी' है जिसे 'सति सप्तमी' भी कहते हैं। 'जब ऐसा हो रहा था' इस प्रकार के अर्थ को सूचित करने के लिए भावे सप्तमी का प्रयोग होता है जब आकाशगंगा का जलप्रवाह कोलाहल कर रहा था।

उद्दामदिग्गजे–दाम्नः उद्गताः इति उद्दामानः (प्रादिसमास), उद्दामानः दिग्गजाः यस्मिन् (स्रोतसि) तत् उद्दाम-दिग्ग्जं तस्मिन् (बहुव्रीहि) स्रोतसि का विशेषण, जो सप्तमी विभQ एकवचन में है। वह स्रोत (जलप्रवाह) जिससे मद से मत्त या उच्छृंखल दिशाओं के हाथी चिंघाड़ रहे थे। दिशाओं के रक्षक हाथी दिग्गज कहलाते हैं। वे आठ हैं : (1) ऐरावत–पूर्व में इन्द्र का हाथी, (2) पुण्डरीक–दक्षिण-पूर्व में अग्नि का हाथी, (3) वामन–दक्षिण में यम का, (4) कुमुद–दक्षिण-पश्चिम में सूर्य का, (5) अञ्जन–पश्चिम में वरुण का, (6) पुष्पदन्त–उत्तर-पश्चिम में वायु का, (7) सार्वभौम–उत्तर में कुबेर का, (8) सुप्रतीक–उत्तर-पूर्व में सोम का। देखिए–

ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः ।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजः ।। (अमरकोश)

स्रोतसि–प्रवाह पर, ''यस्य च भावेन भावलणम्'' से सप्तमी।

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः H 79H

अन्वयः–तदवज्ञानात् आत्मनः ईप्सितं सार्गलं विद्धि, हि. पूज्यपूजाव्यातिक्रम श्रेयः बध्नाति।

अनुवादः–इसलिए उस (कामधेनु) का अनादर करने से आप अपने मनोरथ (की सिद्धि) को रुका हुआ समझो, क्योंकि पूजनीय व्यQयों की पूजा का उल्लंघन कल्याण को रोकता है (कल्याण में बाधा डालता है)।

टिप्पणियाँ :–

ईप्सितम्–धातु आप्+सन् (इच्छार्थक)+Q । आपकी इच्छित वस्तु अर्थात् पुत्र-प्राप्ति।

तदवज्ञानात्–तस्याः अवज्ञानात् (अव+ज्ञा+ल्युट्,) षष्ठी तत्पुरुष, पंचमी एकवचन। उस गाय के अपमान से।

सार्गलम्–अर्गलया सह वर्तमानम् (बहुव्रीहि)। अर्गला–जंजीर। श्रृंखला से बँधा हुआ अर्थात् रुका हुआ।

विद्धि–धातु विद्+लोट्, मध्यम पुरुष, एकवचन, तुम समझो, जानो।

पूज्यपूजा–पूज्यानां पूजा इति पूज्यपूजा, पूज्यपूजायाः व्यतिक्रमः इति (षष्ठी तत्पुरुष), पूजनीय व्यि्Q्यों की पूजा का उल्लंघन अर्थात् पूज्य लोगों की पूजा न करना।

विशेष–भारतीय लोग आदरणीय व्यक्तियों के प्रति आदर प्रदर्शन करना परम धर्म मानते हैं। वास्तव में वह ऐसा कर्त्तव्य है कि प्रत्येक को इसका पालन करना चाहिए। जैसा मनु कहते हैं–

''ऊर्ध्वन् प्राणा ह्युत्क्रमानन्ति यूनः स्थविर आयाति।
प्रत्युत्त्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिद्यते''।। (2.120)

जब कोई ज्येष्ठ व्यक्ति अथवा महापुरुष दिखाई देता है तब कनिष्ठ व्यक्ति के जीवनाधायक प्राण उत्क्रमण करते (निकलने लगते) हैं। परन्तु जब वह कनिष्ठ ज्येष्ठ व्यक्ति के प्रति अपने स्थान से उठकर सम्मान प्रकट करता है और उसे प्रणाम करता है तो उसके प्राण पुनः पूर्ववत् उसके शरीर में स्थिर हो जाते हैं। अतएव ज्येष्ठ व्यक्ति के प्रति सम्मान प्रदर्शन को भारतीय संस्कृति में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है: इसी सन्दर्भ में अन्यत्र भी मनु ने कहा है–

''अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्''।। (2.121)

अर्थात् जो व्यक्ति सदा वृद्ध लोगों को प्रणाम करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं। अतः वृद्धों को प्रणाम करना परम कर्त्तव्य है तथा लाभदायक है। इसी तथ्य को कालिदास ने यहां विधि रूप में न कहकर निषेध रूप में कहा है कि पूजनीय व्यक्तियों का निरादर करने वाले व्यक्ति के मनोरथ तथा कल्याण में बाधा पड़ती है। आदरणीयों के प्रति आदर प्रदर्शन न करने से हानि होती है। दिलीप ने पूज्य कामध ेनु के प्रति भूल से आदर प्रदर्शित नहीं किया जिससे उसे हानि यह हुई कि सन्तान की प्राप्ति रूक गई। देखिए–

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम्।।

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति H 80H

अन्वयः–सा च इदानीं दीर्घसत्रस्य प्रचेतसः हविषे भुजंगपिहितद्वारं पातालम् अधितिष्ठति।

अनुवादः–और वह कामधेनु इस समय चिरकाल तक चलने वाले (यज्ञ को कर रहे) वरुण के यज्ञ में (दही, घी आदि) हविष्य की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए सांपों के द्वारा रोके गए द्वार वाले पाताल लोक में निवास कर रही है।

टिप्पणियाँ :–

दीर्घसत्रस्य–दीर्घम् च इदं सत्रम् दीर्घसत्रम् (कर्मधारय) दीर्घ सत्रं यस्य सः दीर्घसत्र) (बहुव्रीहि), तस्य 'प्रचेतसः' का विशेषण है। वह वरुण जो पाताल में देर तक चलने वाला यज्ञ कर रहे हैं। विशेष रूप से ऐसा यज्ञ जो कम-से-कम 13 दिन से लेकर 100 दिनों तक की अवधि का होता है।

प्रचेतसः–वरुण का।

हविषे–दूध, घी आदि हविष्य के लिए, जो यज्ञ में आहुति के रूप में प्रयुQ होता है तथा समुपस्थित लोगों के आहार में भी प्रयुQ होता है। अर्थ यह है कि कामधेनु से दही, घी आदि हविष्य प्राप्त होते हैं जिन्हें

यज्ञ में देवताओं को अर्पित किया जाता है। वरुण ने दीर्घसत्र आरम्भ किया है अत: हविष्य एवं आहारादि की दीर्घकालिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए कामधेनु पाताल लोक में वरुण के पास है।

पातालम्–''अधिशीङ्स्थासां कर्म'' इस नियम के कारण यहां 'अधि' उपसर्ग पूर्वक **''स्था''** धातु का 'अधितिष्ठति' प्रयोग होने के कारण **''पातालम्''** में सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है। पाताल को अर्थात् पाताल में (वह पवित्र गाय) रहती है।

भुजङ्गमपिहितद्वारम्–भुजेन गच्छति इति भुजंग: (भुज+धातु गम्+खच्) पिहित: (अपि+धातु धा+क्त), भुजङ्गै: पिहितं द्वारं यस्य स: (बहुव्रीहि)। (ऐसा पाताल) जिसके द्वारों को साँपों ने बन्द कर रखा है (अर्थात् वहां जाना असम्भव है)। इससे यह भी संकेत मिलता है कि अगर राजा कामधेनु तक पहुँचना भी चाहे तो भी पाताल द्वार भयानक होने के कारण उसकी पहुंच से बाहर है। पाताल के द्वारों का साँपों द्वारा अवरुद्ध रहने का भारतीय मिथक काफी प्रचलित मिथकों में से हैं।

सुतां तदीयां सुरभे: कृत्वा प्रतिनिधिं शुचि: ।
आराधय सपत्नीक: प्रीता कामदुधा हि स: ॥ 81॥

अन्वय:–तदीयां सुतां सुरभे: प्रतिनिधिं कृत्वा शुचि: (सन्) सपत्नीक: आराधय, हि सा प्रीता (सती) कामदुधा (भवति)।

अनुवाद:–इस समय तुम उसी (कामधेनु) की पुत्री (नन्दिनी) को कामधेनु का प्रतिनिधि (स्थानापन्न) मानकर शुद्ध पवित्र होकर पत्नी सहित उसकी पूजा (सेवा) करो क्योंकि (सेवा से) प्रसन्न हुई वह (पुत्र प्राप्ति रूप आपके) मनोरथ को पूर्ण कर सकती है।

टिप्पणियाँ :–

तदीयाम्–तस्या: इयं तदीया, ताम्। (कामधेनु की)।

सपत्नीक:–पत्न्या सह वर्तमान: इति सपत्नीक: (बहुव्रीहि)। धर्मक्रिया में सपत्नीक का अधिक महत्त्व है। पत्नी के अभाव में स्वर्णमयी प्रतिमा का भी विधान है।

त्वं देवी! चित्तनिहिता गृहदेवता मे
स्वप्नागता शयनमध्यसखी त्वमेव।
दारान्तराहरणनि:स्पृहमानसस्य
यागे तव प्रतिकृतिर्मम धर्मपत्नी।। (कुन्दमाला नाटक (1.14) में श्रीराम सीताजी के प्रति)।

आराधय–प्रसादय, प्रसन्न करो। आ+राध्+णिच्+लोट् मध्यम पुरुष एकवचन।

प्रतिनिधिम्–स्थानापन्न, उसके रूप में। कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को उसका प्रतिनिधि मानकर।

कामदुधा–कामान् दोग्धि इति (काम+धातु दुह्+कप्+टाप्) इच्छाओं का दूध देने वाली। इच्छा या मनोरथ को पूर्ण करने वाली।

इतिवादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ 82॥

अन्वय:–इति वादिन एव अस्य होतु: आहुतिसाधनम् नन्दिनी नाम अनिन्द्या धेनु: वनात् आववृते।

अनुवाद:–इन (वशिष्ठ ऋषि) के ऐसा कहते हुए ही हवनशील (इस वशिष्ठ) के यज्ञ की आहुति का साधन, (दही, घी आदि) (कामधेनु की पुत्री) नन्दिनी नाम की प्रशंसनीय गाय वन से लौट आई।

टिप्पणियां :–

इति वादिनः–एवं वदतः, जब ऋषि ऐसा कह रहे थे।

आहुतिसाधनम्–आहुते साधनम् (षष्ठी तत्पुरुष) यज्ञ की आहुति (दूध, दही, घी, गोबर, गोमूत्र आदि) मूल साधन। यज्ञ के लिए आवश्यक सामग्री नन्दिनी से ही प्राप्त होती थी। अतः वह आहुति का मूल साधन थी।

नन्दिनी–महर्षि वशिष्ठ की दिव्य धेनु का नाम है। वाल्मीकि की रामायण तथा अन्य ग्रन्थों में भी कथाएं प्राप्त होती हैं जिनमें इस बात का उल्लेख है कि महर्षि वशिष्ठ तथा राजर्षि विश्वमित्र में संघर्ष का कारण यही दिव्य धेनु थी। एक बार महाराज विश्वमित्र महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुंचे तो महर्षि ने उनका राजोचित सम्मान किया और तपोवन में ही राजधानी जैसी विलास सामग्री उपस्थित कर दी। इस पर विश्वामित्र को आश्चर्य हुआ और इन्होंने इसका कारण जानना चाहा। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि महर्षि वशिष्ठ नन्दिनी नामक दिव्य धेनु की महिमा से ही तपोवन में राजकीय वैभव उपस्थित कर सके हैं, तो उन्होंने उसको तुरन्त लेना चाहा। इस पर दोनों में युद्ध हुआ और नन्दिनी ने ऐसी दिव्य शक्तिशाली सेना अपनी महिमा से उपस्थित की कि विशाल सेना वाले विश्वामित्र को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। अतएव राजर्षि विश्वामित्र को कहना पड़ा–**धि ग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।**

आववृते–आ+धातु वृत्+लिट्, अन्य पुरुष, एकवचन, लौटी, वापिस आई।

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्घपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाV सन्ध्येव शशिनं नवम् H 83H

अन्वयः–पल्लवस्निग्धपाटला ललाटोदयं आभुग्नं श्वेतरोमाV बिभ्रती सन्ध्या इव (स्थिता नन्दिनी आवृवत्ते)।

अनुवादः–जिस प्रकार नवीन किसलय के समान कोमल तथा लाल रंग वाली सन्ध्या पश्चिम दिशा में टेढ़े नवीन चन्द्रमा को धारण करती है उसी प्रकार कोमल किसलय के समान चिकनी तथा लाल रंग वाली नन्दिनी कुछ टेढ़े सफेद रंग के बालों के चिन्ह को (नवीन चन्द्र के समान) मस्तक पर धारण करती हुई (वन से आश्रम को लौटी)।

टिप्पणियां :–

विशेष–इस श्लोक में तथा अगले दो श्लोकों में नन्दिनी गौ का वर्णन है।

ललाटोदयम्–ललाटे उदयः यस्य सः (बहुव्रीहि) तम्। 'श्वेतरोमांकम्' का विशेषण। मस्तक पर उभरे हुए, मस्तक पर शोभायमान।

आभुग्नम्–आ+धातु भुज्+Q । कुछ टेढ़ा।

श्वेतरोमाVम्–श्वेतानि च तानि रोमाणि इति (कर्मधारय), श्वेतरोमाणि एव अV इति श्वेतरोमाV तम् (रूपक कर्मधारय)।

पल्लव–पल्लववत् स्निग्धा चासौ पाटला च (कर्मधारय)। कोमल किसलय के समान चिकनी (कोमल) लाल रंग वानी नन्दिनी तथा सन्ध्या दोनों से सम्बद्ध विशेषण है।

बिभ्रती–धातु भृ, शतृ ङीप् (स्त्रीलिंग), धारण करती हुई।

विशेष–प्रस्तुत श्लोक में उपमा का सौष्ठव ध्यान देने योग्य है। कालिदास ऐसे उपमानों को चुनते हैं जो उपमेय के सर्वथा अनुरूप होते हैं। यहां उपमेय 'धेनु' का उपमान 'संध्या' सर्वथा उपयुQ है। जैसे उपमान 'संध्या' उज्जवल और लाल होती है वैसे ही उपमेय नन्दिनी भी कोमल और लाल रंग की है। गौ के मस्तक

पर कुछ टेढ़ा सफेद बालों का चिन्ह था जैसे सन्ध्या के आरम्भ में दूज के शुभ्र तथा टेढ़े चन्द्रमा का चिन्ह होता है। इस प्रकार 'सन्ध्या' 'नन्दिनी' का अनुरूप उपमान है। सन्ध्या लाल रंग की है, नन्दिनी भी लाल रंग की है। संध्या द्वितीय के वक्र चन्द्र को धारण करती है। नन्दिनी ने भी सफेद बालों के टेढ़े चिन्ह को धारण किया है। अतः दोनों की तुलना उपयुQ है। गौ के 'श्वेत रोमांक' की तुलना 'नये शशि' है तथा गौ की तुलना सन्ध्या से है। देखिए–**साम्यं वाच्यवैधर्म्य उपमा द्वयोः**।

भुवं कोष्णेनेव कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना H 84H

अन्वयः–कोष्णेन अवभृथादपि मेध्येन वत्सालोकप्रवर्तिना प्रस्नवेन भुवम् अभिवर्षन्ती कुण्डोध्नी (नन्दिनी वनाद् आववृते)।

अनुवादः–कुछ गरम तथा यज्ञ समाप्ति पर किए गए (अवभृथ) जलस्नान से भी पवित्र एवं बछड़े को देखकर स्वयं टपकने वाले दूध से पृथ्वी को सींचती हुई कुण्ड (घड़े) के समान बड़े स्तनों वाली नन्दिनी गौ (वन से लौटी)।

टिप्पणियां :–

कुण्डोध्नी–कुण्डम् इव ऊधः (स्तन) यस्याः सा (वहुव्रीहि) धेनु का विशेषण। ऐसी गाय जिसके स्तन (थन) घड़े के समान थे। बड़े थनों वाली। नन्दिनी गाय का विशेषण है।

विशेष–प्रस्तुत श्लोक में तृतीया एकवचनान्त पद 'प्रस्नवेन' के विशेषण है। प्रस्नवेन=प्र+धातु स्नु+अप्, तृतीया एकवचन, दूध से, इसके विशेषण हैं–कोष्णेन–गरम–गरम।

वत्सालोकप्रवर्तिना–वत्सस्य आलोकः इति वत्सालोकः (षष्ठी तत्पुरुष) वत्सालोकेन प्रवर्तितुं शीलमस्य इति वत्सालोकप्रवर्ती, तेन। अपने बछड़े को देखते ही टपकने वाली।

अवभृथाद् अपि मेध्येन–अवभृथ (यज्ञ–स्नान) से अधिक पवित्र। मेध्येन–पवित्र, शुद्ध। अवभृथ–यज्ञ की समाप्ति पर यजमान द्वारा किया गया धार्मिक स्नान, यज्ञ–स्नान। यह स्नान बहुत पवित्र माना जाता है। 'दीक्षा' से यज्ञ आरम्भ होता है और 'अवभृथ' से उसकी समाप्ति होती है।

प्रस्नवेन–दूध के चूने से। प्र+स्नु+अप्।

अभिवर्षन्ती–अभि+धातु वृष्+शतृ–ङीप् (स्त्रीलिंग), टपकाती हुई, सींचती हुई।

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः H 85H

अन्वयः–खुरोद्धूतैः अन्तिकात् गात्रं स्पृशद्भिः रजः कणैः महीक्षितः तीर्थाभिषेकजां शुद्धिम् आदधाना (सती वनादाववृते)।

अनुवादः–अपने खुरों से उड़ाए गए समीप होने के कारण (राजा दिलीप के) अंगों के स्पर्श करते हुए धूल के कणों से पृथ्वी के स्वामी दिलीप की तीर्थ जल में स्नान करने से उत्पन्न होने वाली शुद्धि (पवित्रता) को करती हुई नन्दिनी गौ (वन से लौटी)।

टिप्पणियाँ :–

(अन्तकात् गात्रं) स्पृशद्भिः–धातु स्पृश्+शतृ, तृतीया विभQ, बहुवचन, पास से (राजा के) अंगों को छूते हुए। 'रजः कणैः' का विशेषण।

खुरोद्धूतैः–खुरेण उद्धूतैः (उद्+धातु धू+Q), खुरों से उड़ाए हुए। 'रजः कणैः' (धूल के कण) का विशेषण।

आदधाना–आ+धातु धा+शानच्+टाप् (स्त्रीलिंग) करती हुई, बनाती हुई। नन्दिनी का विशेषण।

महीक्षितः–राजा की अर्थात् राजा को अपने खुरों की धूल से शुद्ध बनाती हुई। पवित्र करती हुई।

तीर्थाः–तीर्थेषु अभिषेकः सप्तमी (तत्पुरुष), तीर्थाभिषेकेण जातमिति तीर्थाभिषेकजातम्, तृतीया तत्पुरुष। तीर्थ+अभिषेक+धातु जन्+ड्+टाप्, द्वितीया एकवचन, तीर्थस्थान, विशेष रूप से पवित्र नदी तट पर स्थित धार्मिक स्नान।

भाव यह है कि जिस प्रकार पवित्र गंगा आदि नदी के तट पर विराजमान 'हरिद्वार', 'काशी' आदि तीर्थस्थानों में स्नान करने से शरीर शुद्ध होता है उसी प्रकार नन्दिनी गौ भी अपने खुरों से उड़ाई गई धूलि से राजा के शरीर को शुद्ध कर रही थी। इससे नन्दिनी गौ की दिव्यता व्यQ होती है कि गंगा आदि पवित्र नदियों के समान उसकी खुरों से उठी धूलि पावनता लिये हुई थी। यहां उस धूलि में शुचित्व पावनत्वादि गुणों का आधान है।

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् H 86H

अन्वयः–निमित्तज्ञः तपोनिधिः पुण्यदर्शनां तां दृष्ट्वा आशंसितावन्ध्यप्रार्थनं याज्यं पुनः अब्रवीत्।

अनुवादः–शकुनशास्त्र के विद्वान तपस्वी वशिष्ठ पवित्र दर्शन वाली आई हुई उस नन्दिनी गौ को देखकर यजमान दिलीप से, जिनकी (पुत्र प्राप्ति रूपी) मनोरथ की प्रार्थना (चाह) अवश्य सफल होने वाली थी, पुनः इस प्रकार बोले।

टिप्पणियाँ :–

दृष्ट्वा–धातु दृश्–क्त्वा, देखकर।

निमित्तज्ञः निमित्तं जानाति इति (निमित+ज्ञ+क) जो शकुनशास्त्र का ज्ञाता है, महर्षि वशिष्ठ का विशेषण। इस विशेषण की विशिष्टता यही है कि जैसे ही ऋषि वशिष्ठ ने गाय को देखा त्यों ही वे समझ गए कि राजा की मनोकामना की सिद्धि समीप ही थी।

याज्यम्–याजयितुं योग्यम्, धातु यज्+णिच्; जिसके लिए यज्ञ किया जाता है। यजमान।

आशंसित–आशंसिता (मनोरथ) अवन्ध्या (सफल) प्रार्थना यस्य सः (बहुव्रीहि तम्। 'याज्यं' (राजा) का विशेषण है जिसका मनोरथ (पुत्र प्राप्ति रूप) सफल होने वाला है जिसकी पुत्र प्राप्ति की मनोकामना पूर्ण होने को है। अन्य मतानुसार इसका विग्रह 'आशंसिता अवन्ध्या प्रार्थना यस्य तम्' भी किया जा सकता है। अतः 'आशंसिता' का अर्थ होगा 'सूचित' और 'अवन्ध्या' का निष्फल नहीं (होना)।

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन् विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् H 87H

अन्वयः–राजन् ! आत्मनः सिद्धिं अदूरवर्तिनीं विगणय यत् नाम्नि कीर्तिते एव इयं कल्याणी उपस्थिता।

अनुवादः–हे राजन् ! अब आप अपने मनोरथ की सिद्धि को निकट ही आई हुई (शीघ्र ही पूर्ण हुई) जानो क्योंकि मंगल-मूर्ति नन्दिनी गाय (इसका) नाम लेते ही सामने आ गई है।

टिप्पणियाँ :–

अदूरवर्तिनीम्–न दूरम् इति अदूरम्, नञ् तत्पुरुष, अदूरे वर्तते इति ताम् (अदूर+धातु वृत्+णिनि+ङीप्), जो दूर नहीं है, शीघ्र ही पूरी होने वाली। 'सिद्धि' का विशेषण है।

उपस्थिता–उप+धातु स्था+Q +टाप्। आ गई है, आ पहुंची है।

कल्याणी–मंगलकारिणी, शुभ, नन्दिनी गाय का विशेषण है।

नाम्नि–यह वाक्य-रचना ध्यान देने योग्य है–नाम्नि कीर्तिते (सति) ज्यों ही नन्दिनी का नाम लिया, वैसे ही वहां उपस्थित हो गई। यह कार्यसिद्धि का सूचक शुभ शकुन है। 'नाम्नि' भावे सप्तमी प्रयोग है।

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि H 88H

अन्वयः–वन्यवृत्तिः शश्वद् आत्मानुगमनेन इमां गाम् अभ्यसनेन विद्याम् इव प्रसादयितुम् अर्हसि।

अनुवादः–हे राजन् ! कन्द मूल-फल आदि खाकर मुनियों के समान आचरण करते हुए तुम निरन्तर इस गाय का अनुगमन करके (पीछे चलकर) इसे उस प्रकार प्रसन्न कर सकते हो, जैसे अभ्यास द्वारा विद्या प्रसन्न की जाती है।

टिप्पणियाँ :–

वन्यवृत्तिः–वन्यम् (वन में उगने वाले कन्दमूल आदि) वृत्तिः जीविका यस्य सः (बहुव्रीहि), वन से कन्दमूल आदि खाकर जीवनयापन (वृत्ति) करने वाला तथा मुनिजनोचित संयमादि से युQ वन्यवृतिः, त्वम्।

आत्मानुगमनेन–आत्मनः अनुगमनेन (षष्ठी तत्पुरुष) स्वयं तुम उस गाय के पीछे चलने से। तुम (उसका) अनुसरण करके (उसे प्रसन्न कर सकते हो)। बड़ों का अनुकरण करना विश्वास और सौभाग्य देता है।

विद्याम्–बार-बार पढ़ने से विद्या सिद्ध होती है। जैसे विद्यार्थी पाठ को बार-बार पढ़ने से समझता है उसी प्रकार तुम भी सदा गौ का अनुसरण करके उसे प्रसन्न कर सकते हो।

अभ्यसनेन–अभि+धातु अस्+ल्युट् (सतत अभ्यास से)।

प्रसादायितुम्–प्र+धातु सद्+णिच्+तुमुन्।

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः H 89H

अन्वयः–अस्यां प्रस्थितायां (त्वं) प्रतिष्ठेथाः, स्थितायां स्थितिम् आचरेः, निषण्णायां निषीद, पीताम्भसि अपः पिबेः।

अनुवादः–जब यह चले तब तुम भी चलना, जब खड़ी हो जाए तो खड़े हो जाना और बैठे तो बैठना। जब यह जल पी चुके तो तब तुम जल पीना। (इस प्रकार छाया के समान इसका अनुसरण कर तुम इसे सेवा से प्रसन्न कर सकते हो।)।

टिप्पणियाँ :–

प्रस्तुत श्लोक तथा अगले श्लोक में महर्षि वशिष्ठ राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा को शिक्षा देते हैं कि वे कैसे नन्दिनी गौ की सेवा करें जिससे वह उन पर प्रसन्न हो।

प्रस्तुत श्लोक के अन्वय पर ध्यान दीजिए:–

अस्यां प्रस्थितायां (सत्यां) त्वं प्रतिष्ठेथाः, अस्यां स्थितायां सत्यां स्थितिं आचरेः, (अस्यां) निषण्णायां (त्वं) निषीद, (अस्यां) पीताम्भसि (त्वं) अपः पिबेः।

प्रस्थितायाम्–प्र+धातु स्था+Q +टाप्, सप्तमी विभQ, एकवचन। जब वह चल पड़े; उनके चलने के बाद (तुम चलना)।

प्रतिष्ठेथाः–प्र+धातु स्था (आत्मनेपद) +लिङ् मध्यम पुरुष, एकवचन। (तब) तुम चलना।

यद्यपि स्था धातु परस्मैपदी होती है परन्तु जब इसके पूर्व 'सम्', 'अव', 'प्र' और 'वि' उपसर्ग आ जाते हैं तब यह 'समवप्रविभ्यः स्थः' इस सूत्र से आत्मनेपदी हो जाती है। तब 'संतिष्ठते' 'अवतिष्ठते' इत्यादि आत्मनेपदी धातु के समान रूप चलते हैं। 'प्रतिष्ठेथाः' भी लिङ् लकार में आत्मनेपदी रूप है।

निषण्णायाम्–नि+धातु सद्+Q +टाप्, स्त्रीलिंग सप्तमी एकवचन। बैठ जाने पर अर्थात् जब यह गौ बैठ जाए (तब आप बैठना)

निषीद–आप बैठना।

पीताम्भसि–पीतं अम्भः यथा सा, पीताम्भः (बहुव्रीहि), तस्याम्। जो पानी पी चुकी है, उसके जल पीने पर (आप जल पीना)।

वधूर्भQमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि H 90H

अन्वयः–वधूः भQमती प्रयता च (सती) अर्चिताम् एनां प्रातः आतपोवनात् अन्वेतु सायम् अपि प्रत्युद्व्रजेत्।

अनुवादः–वधू, सुदक्षिणा भी पवित्र होकर भQपूर्वक इसकी पूजा करके प्रतिदिन प्रातःकाल तपोवन की सीमा तक इसे पहुंचाने जाए तथा सायंकाल के समय भी तपोवन की सीमा पर पहुंचकर स्वागतपूर्वक इसे आश्रम में लाए।

टिप्पणियां :–

भQमती–भQ विद्यते अस्याः इति भQमती। (भQ +मतुप्+ङीप्)।

आतपोवनात्–तपोवन की सीमा तक। 'पंचम्यपाङ्परिभिः' इस नियम से 'आङ्' सीमावाचक में 'तपोवन' शब्द में पंचमी विभQ लगी है। यह सुदक्षिणा के कर्त्तव्य को इंगित करता है।

प्रयता–प्र+धातु यम्+Q +टाप्+शुद्ध. पवित्र, जितेन्द्रिय। 'वधूः' का विशेषण।

अन्वेतु–अनु+धातु इ+लोट्, मध्यम पुरुष, एकवचन, पीछे-पीछे चले

इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् H 91H

अन्वयः–इति त्वं अस्याः आप्रसादात् परिचर्यापरः भव, ते अविघ्नम् अस्तु, पिता इव पुत्रिणाम् धुरि स्थेयाः।

अनुवादः–इस प्रकार (विधिवत) प्रसन्न होने तक तुम इसकी सेवा करो। तुम्हारे विघ्न नष्ट हों। अपने पिता के समान तुम भी उत्तम पुत्रवालों में सबसे आगे (श्रेष्ठ) ठहरो (अर्थात् तुम्हारे जैसा ही तुम्हें पुत्र प्राप्त हो)।

टिप्पणियाँ :–

इति–श्लोक 89 तथा 90 में कही गई विधि से।

पितेव–स्थेयाः– भाव यह है कि जिस प्रकार यशस्वी पुत्र के रूप में महाराज दिलीप को प्राप्त कर उनके पिता भाग्यवान् थे उसी प्रकार उन्हें भी अपने अनुरूप पुत्र को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो। अपने पिता के समान आपको भी श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो।

परिचर्यापरः–परिचर्या एव परं (प्रधान) यस्य सः। परिचर्या ही जिसका मूल व्रत है।

पुत्रिणाम्–(उनमें) जिनके श्रेष्ठ पुत्र हैं, उत्तम पुत्रों वाले पिताओं में।

स्थेयाः–धातु स्था+आशीलिंङ्, मध्यम पुरुष, एकवचन। (तुम भी श्रेष्ठ) रहो, होओ।

धुरि–उत्तम, श्रेष्ठ, आगे।

अविघ्नम्–विघ्नस्य अभावः (अव्ययीभाव) अविघ्नम्, निर्विघ्न।

तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः H 92H

अन्वयः–देशकालज्ञः सपरिग्रहः प्रीतिमान् शिष्यः आनतः (सन्) शासितुः आदेश तथा इति प्रतिजग्राह।

अनुवादः–देश (अग्नि की सन्निधि) और काल (अग्निहोत्र की समाप्ति का समय) के महत्त्व को समझने वाले राजा दिलीप ने प्रसन्न होकर अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ अत्यन्त विनीतभाव से अपने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा को उसी रूप में स्वीकार किया।

टिप्पणियाँ :–

देशकालज्ञः– देशश्च कालश्च इति देशकालौ (द्वन्द्व); जानाति इति ज्ञः (ज्ञा+क) देशकालयोः ज्ञः इति देशकालः ज्ञः (षष्ठी तत्पुरुष) भाव यह है कि अग्नि के समीप ऋषि के आदेश देने से और अग्निहोत्र की समाप्ति समीप होने से राजा ने अपनी इच्छा को पूर्ण हुआ जाना।

सपरिग्रहः–परिग्रहेण (पत्नी) सह वर्तमानः (बहुव्रीहि), अपनी पत्नी के साथ सपत्नीक।

आनतः–आ+धातु नम्+Q, नम्र, झुका हुआ (दिलीप)।

शासितुः–(आदेशम्)–अपने धार्मिक गुरु की (आज्ञा को) 'शासितृ' शब्द का षष्ठी विभQ, एकवचन रूप। शासितृ–शास्+तृच्।

प्रतिजग्राह–प्रति+धातु ग्रह्+लिट्. अन्य पुरुष, एकवचन।

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।
सूनुः सुनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् H 93H

अन्वयः–अथ प्रदोषे दोषज्ञः सुनृतवाक् स्रष्टुः सूनुः ऊर्जितश्रियं विशांपतिम् संवेशाय विससर्ज।

अनुवादः–तब रात्रि के समय सत्यवादी तथा मधुर भाषी, ब्रह्मा के पुत्र, विद्वान् वशिष्ठ ऋषि ने उत्तम लक्ष्मी से सम्पन्न, प्रजा के स्वामी राजा दिलीप को शयन के लिए आज्ञा दी।

टिप्पणियाँ :–

प्रदोषे–रात्रि के समय, प्रकृष्टदोष (चौर्यादिभयानि) यस्मिन् काले सः प्रदोषः।

दोषज्ञः बुद्धिमान्, समझदार, विद्वान्। देखिए–विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः अमरकोश।

अर्जितश्रियम्–अर्जिता श्री यस्य स तम् (बहुव्रीहि)। जिसका सौभाग्य विशिष्ट था।

संवेशाय–'सम' उपसर्ग पूर्वक विश् धातु का अर्थ होता है–सोना अर्थात् सोने के लिए, निद्रा के लिए।

विशांपतिम्–प्रजा के स्वामी (दिलीप) को। विशाम्–प्रजा के।

सूनृतवाक्–'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' (हलायुधः)। सूनृता वाक् यस्य सः (बहुव्रीहि)। सत्य तथा प्रिय वचन बोलने वाले (वशिष्ठ ऋषि)

सत्यामति तपःसिद्धौ नियमपेक्षया मुनिः ।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् H 94H

अन्वयः–तपः सिद्धौ सत्यामपि कल्पवित् मुनिः नियमापेक्षया अस्य (राज्ञः) वन्याम् एवं संविधां कल्पयामास।

अनुवादः–यद्यपि व्रत के प्रयोगों को जानने वाले मुनि वशिष्ठ को तप की सिद्धि थी (जिससे वे तपोवन में भी राजाओं के योग्य विलास-सामग्री उपस्थित कर देने की सामर्थ्य रखते थे), फिर भी उन्होंने दिलीप के लिए नन्दिनी की सेवारूपी व्रत का ध्यान रखते हुए वन में निवास करने वाले ऋषि-मुनियों के योग्य ही (कुशाओं का बिछौना आदि) सामग्री का आयोजन किया।

टिप्पणियाँ :–

सत्यामपि तपः सिद्धौ.....यद्यपि महर्षि वशिष्ठ तपोबल से आश्रम में दिलीप के लिए राजोचित सुख-सुविधा उपस्थित करने में समर्थ थे फिर भी उन्होंने राजा के लिए आश्रमोचित (मुनिजनोचित) सुख-सुविधा की ही सामग्री आयोजित की। भाव यह है कि तप से प्राप्त सिद्धि के कारण महर्षि वशिष्ठ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ जुटा सकते थे फिर भी उन्होंने राजा के शयन के लिए वैसी ही व्यवस्था की जैसी किसी आश्रम के तपस्वी के लिए की जाती है।

नियमापेक्षया–नियमस्य अपेक्षा, तया। सामर्थ्य होने पर भी राजोचित सुख-सुविधा प्रस्तुत न करने का कारण यह था कि वशिष्ठ चाहते थे कि पुत्र प्राप्ति के लिए उत्सुक राजा और रानी राजसी सुख-वैभव परित्याग कर तपस्वी के आचरण को अपनाएँ। नन्दिनी की सेवा का व्रत लेने पर उन्हें अब वन्यजीवन यापन करना पड़ेगा। अतः महर्षि वशिष्ठ ने इस नियम की अपेक्षा से ही राजदम्पती के लिए राजसी सुख-सुविधा नहीं जुटाई।

कल्पवित्–कल्प (धार्मिक विधि का क्रम या पद्धति) को जानने वाला अर्थात् सिद्धिदायक व्रत के प्रयोगों को जानने वाले वशिष्ठ ऋषि। गुरु वशिष्ठ यज्ञयागादि के नियमों से पूर्णरूपेण परिचित थे क्योंकि राजा ने तपश्चर्या करनी थी अतः उन्हें मुनियों का-सा जीवन व्यतीत करना चाहिए इसलिए गुरु वशिष्ठ ने उन्हें कुशासन तथा फल-मूलों का भोजन दिया। यह मुनिजनोचित सामग्री गोसेवारूपकल्प (व्रत) में सहायक होगी।

संविधाम्–जीवनोचित्त सामग्री–जैसे कुशादि का शÄया, कन्दमूल आदि वन-फलों का भोजन आदि। सम् उपसर्ग+वि उपसर्ग+धा धातु+क प्रत्यय।

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानाम् संविष्टः कुशशयने निशां निनाय H 95H

अन्वयः–प्रयतपरिग्रहद्वितीयः स (राजा) कुलपतिना निर्दिष्टां पर्णशालाम् अध्यास्य कुशशयने संविष्टः (सन्) तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां निशां निनाय।

अनुवादः–राजा दिलीप नियमों का पालन करने वाली (जितेन्द्रिय) अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ कुलपति वशिष्ठ द्वारा बताई गई कुटिया में निवास कर कुशा के बिस्तर पर सोये और जन (मुनि वशिष्ठ) के शिष्यों के वेदपाठ के घोष द्वारा सूचित रात्रि की समाप्ति पर जाग गए। इस प्रकार उन्होंने रात बिताई।

टिप्पणियाँ :–

कुलपतिना–कुलपति द्वारा। प्राचीन भारत में भी अध्यापकों की कई श्रेणियाँ होती थी। जैसे गुरु, उपाध्याय, आचार्य, कुलपति आदि। इनमें कुलपति उसे कहते थे जो दस हजार (10,000) शिष्यों के भोजन तथा अध्ययन का प्रबन्ध करता था। देखिए–

मुनीनां दशसाहत्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः।।

अध्यास्य–अधि+धातु आस्+ल्यप्, निवास करके, रहकर। 'अधि' उपसर्ग पूर्वक 'आस्' धातु के योग के कारण से ही 'पर्णशालाम्' में सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभQ्िा प्रयुQ हुई है। देखिए नियम–**'अधिशीङ्स्थासां कर्म'।**

प्रयत–प्रयतः परिग्रहः (पत्नी) प्रयतपरिग्रहः (कर्मधारय), प्रयतपरिग्रहः एवं द्वितीयः यस्य सः (बहुव्रीहि) 'सः' का विशेषण है। वह राजा जिसके साथ उसकी जितेन्द्रिय पत्नी ही सहायक के रूप में है। इससे पूर्व तो राजा के साथ अनुचर भी थे। परन्तु नन्दिनी गौ की सेवा का व्रत लेने पर अब केवल उसकी पवित्र जितेन्द्रिय पत्नी सहायक रह गई थी। देखिए–**'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतवर्ष।'** (गीता 3.41)

प्रयतः–जितेन्द्रिय, परिग्रह–पत्नी, सहायक।

तच्छिष्या–तस्या शिष्याः, तच्छिष्याः, (षष्ठी तत्पुरुष) तच्छिष्याणां अध्ययनम् इति तच्छिष्याष्ययनम् (षष्ठी तत्पुरुष), तच्छिष्याध्ययनेन निवेदितं अवसानं यस्याः सा (बहुव्रीहि), ताम्। निशाम् का विशेषण। (वह रात) जिसकी समाप्ति की सूचना वशिष्ठ ऋषि के शिष्यों के वेदाध्ययन के स्वर से मिली है। अर्थात् राजा ने महर्षि के शिष्यों के वेदाध्ययन के शब्द से जान लिया कि रात्रि का अन्त हो गया है और अब शÄया-त्याग का समय है। अवसान–समाप्ति, अन्त, (रात का) बीत जाना।

संविष्टः–सम्+धातु विश्+Q । सोया हुआ।

निनाय–धातु नि+लिट्, अन्य पुरुष, एकवचन; बिताया, गुजारा, (रात) बिताई।

विशेष–महाकाव्य की परिभाषा के अनुसार महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु सर्ग के अन्तिम पद्य का छन्द पूर्वप्रयुQ छन्द से भिन्न होना चाहिए। तदनुसार रघुवंश महाकाव्य के प्रथम सर्ग में 1 से 94 श्लोक तक एक ही छन्द श्लोक या अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है परन्तु इस सर्ग के अन्तिम 95 वें श्लोक में छन्द प्रहर्षिणी है। इस प्रकार अन्तिम पद्य का छन्द सम्पूर्ण सर्ग में प्रयुQ श्लोक छन्द से भिन्न है। देखिए–**''एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः''**– साहित्य दर्पण।

इस प्रकार से कविकुल-गुरु उपमासम्राट् महाकवि कालिदास ने, जो कविता कामिनी के विलास हैं, अपने सार्वकालिक अमर महाकाव्य रघुवंशम् के इस प्रथम सर्ग में राम के पूर्वज राजा दिलीप के चरित्र के सभी आयामों को संक्षेप में बखान कर पुत्र-कामना हेतु उनके द्वारा किए जाने वाले व्रत का संवेदनापूर्ण रूपायन किया है।

Laser Type Setting By : Chetan Printers, Nirankari Colony, Delhi-110009

बी.ए. प्रोग्राम प्रथम वर्ष संस्कृत सेट १

छात्र-उत्तर-पत्र

प्राप्तांक..................................%

प्राध्यापक के हस्ताक्षर..................................

अनुक्रमांक.....................

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें :–

मुक्त शिक्षा विद्यालय

5, कैवेलरी लेन,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

नाम...

पता...

....

....

पिन कोड.......................................

शिक्षा-सत्र 2007-2008

प्रश्न 1. रघुवंश महाकाव्य है अथवा नहीं, संक्षेप में सप्रमाण उत्तर दीजिए।

प्रश्न 2. रघुवंश महाकाव्य को दृष्टि में रखते हुए महाकवि कालिदास की शैली की विवेचना 15 पंक्तियों में करें।

प्रश्न 3. निम्नलिखित में से एक श्लोक का अनुवाद करते हुए यह बतायें कि श्लोक किस ग्रन्थ से लिया गया है और इसके लेखक कौन है;

(क) सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥

(ख) आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥

प्रश्न 4. महाराज विक्रमादित्य के द्वारा लंका की राज्य सभा में नर्तकी के समक्ष प्रस्तुत समस्या नीचे दी जा रही है, उसकी पूर्ति कालिदास के शब्दों में करते हुए अनुवाद करे।

'कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते।'

बी.ए. प्रोग्राम प्रथम वर्ष संस्कृत सेट १

छात्र-उत्तर-पत्र

प्राप्तांक..................................%

प्राध्यापक के हस्ताक्षर..................................

अनुक्रमांक.....................

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें :-

मुक्त शिक्षा विद्यालय

5, कैवेलरी लेन,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

नाम..

पता..

....

....

पिन कोड......................................

शिक्षा-सत्र 2007-2008

प्रश्न 1. निम्नलिखित में से किन्हीं दो श्लोकों का अनुवाद कीजिए-

(अ) अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

(आ) त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां, प्रजायै गृहमेधिनाम्॥

(इ) रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥

(ई) ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥

प्रश्न 2. सन्दर्भ निर्देशपूर्वक निम्नलिखित पंक्तियों में से दो की व्याख्या कीजिए-

(अ) सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।

(आ) फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।

(इ) संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्।

(ई) श्रुतौ तस्करता स्थिता।

प्रश्न 3. निम्नलिखित शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए:-

प्रतिपत्तये, कृतवाग्द्वारे, व्यूढोरस्कः, जुगोप, तस्करता।

प्रश्न 4. निम्नलिखित शब्दों पर व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ लिखिए:-

यथाविधि, प्रणवश्छन्दसाम्, गाम् दुदोह, समाधिः।